साहित्य-संतरण

इलाचन्द्र जोशी
गंगाप्रसाद पांडेय, एम्. ए.

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक के आलोचक-द्वय हिन्दी के अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ हैं। इसके निबन्ध मनोवैज्ञानिक तल के आधार पर, सूक्ष्म अंतर्दृष्टि से लिखे गये हैं। आधुनिक हिन्दी साहित्य के लगभग उपेक्षित अंगों पर इस पुस्तक के कुछ निबन्धों द्वारा प्रकाश डाला गया है। साहित्य के आधारभूत सिद्धान्तों पर विशेषकर आरम्भिक निबन्ध यथेष्ट प्रकाश डालते हैं। निबन्ध सभी साहित्यिक होते हुए भी दुरूह अथवा मन ऊबा डालनेवाले नहीं हैं। आशा है कि विद्यार्थीगण भी इस पुस्तक द्वारा यथोचित लाभ उठा सकेंगे।

१५-६-१९४३

पुरुषोत्तमदास टंडन
मंत्री
साहित्य भवन लि०

मुझे इस बात की बड़ी प्रसन्नता है कि मेरे परम स्नेहभाजन और हिंदी के सुप्रसिद्ध और सुयोग्य आलोचक श्री गंगाप्रसादजी पांडेय के निबंधों के साथ मेरे कुछ लेखों के प्रकाशित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। पांडेयजी ने तरुण अवस्था में ही विचारों की यथेष्ट परिपक्वता प्राप्त कर ली है, यह बात हिंदी के वर्तमान आलोचना-साहित्य से परिचित पाठकों को बताने की आवश्यकता न होगी। उनकी प्रायः सात आलोचनात्मक पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके 'छायावाद तथा रहस्यवाद' और 'कामायनी—एक परिचय' ने तो उन्हें आलोचना-क्षेत्र में एक विशिष्ट और निश्चित स्थान प्रदान कर दिया है। विचारों की परिपक्वता के अलावा पांडेयजी की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी है कि उन्होंने एक ऐसी शैली को अपना कर उस पर अधिकार प्राप्त कर लिया है जो सतेज होने के साथ ही वेगशील भी है। उनकी शैली की इस सजीवता का कारण है उनका आत्मविश्वास, और इस आत्मविश्वास का कारण है बाहर से प्राप्त विचारों और भावों को अपने भीतरी पाचन-रस द्वारा परिपाक करने की उनकी क्षमता। हिंदी-साहित्य को पांडेयजी से अभी बहुत-कुछ आशा है। उनके विचारों का विकास निरन्तर प्रगति की ओर बढ़ा चला जा रहा है, ये शुभ लक्षण हैं।

प्रस्तुत संग्रह में मेरे जो निबंध छपे हैं, वे सन् १९२७ से लेकर १९४३ तक, विभिन्न समयों में लिखे गये हैं। "साहित्य का भूत, भविष्य और वर्तमान" और "आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण"—ये दो

मेरी नवीनतम रचनाएँ हैं। पांडेयजी के लेख भी विभिन्न समयों में भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

पांडेयजी के और मेरे विचारो में कहीं-कहीं मूलगत वैषम्य पाया जावेगा। पर चूँकि प्रत्येक सत्य के कई पहलू होते हैं, इसलिए मुझे पूरी आशा है कि इस प्रकार का विचार-वैषम्य एक-दूसरे का घातक न होकर अंत मे पूरक ही सिद्ध होगा।

प्रयाग
१ जून, १९४३

इलाचंद्र जोशी

विषय-सूची

कला और जीवन

कला जीवन का साध्य और सुसंस्कृत स्वरूप है। कला विश्व की यथा-तथ्य वस्तुस्थिति का चित्र-मात्र नही है और न वह उसकी कोरी आलोचना ही है। वह तो मनुष्य के अन्तःकरण की सामञ्जस्यमयी सृजन-प्रेरणा का प्राण है, उसके भीतर कलाकार के हृदय का आनन्द, आह्लाद और आवेग छिपा रहता है। प्रत्यक्ष-जीवन और जगत् मे एक व्यापक व्यर्थता और अव्यवस्था तथा अर्थ-हीनता का अस्तित्व अधिक है, किंतु यही जीवन और जगत् कलाकार की सृष्टि मे पहुँच कर अपने स्वरूप में समग्रता, उज्ज्वलता और सौन्दर्य को समेट लेता है, यथा एक ही जल विभिन्न रंगीन बोतलो मे अपना रंग। इसी सहृदयता और समन्वय के कारण यह सारा बिखरा विश्व और जीवन मनुष्य के समीप आ जाता है। इसी सार्थकता के कारण कला जीवन की अपेक्षा अधिक स्थायी, सत्य और सुन्दर है।

जीवन की क्षणिकता और भयानकता का परिहार करने के लिए आदि कलाकार ने प्रकृति के रूप मे मनुष्य को सुन्दर-सुन्दर उपहार दिये हैं। उसकी अनुपम सजावट, असीम आकर्षण मानव-मन को शांति और सुख देते रहते हैं। धरती के विशाल-वक्ष मे खिलनेवाले रंगीन कोमल कुसुम, हरीतिमा से लहलहाते मैदान, आकाश-चुम्बी वृक्ष, कल-कूजन करनेवाले पक्षी, स्नेह-स्निग्ध सजल-सरिता और सागर, जीवन मे प्रसन्नता और सौंदर्य की सृष्टि करते हैं। मनुष्य अपने को इनके बीच मे

पाकर अपनी कठिनाइयों, पीड़ाओ और विवशताओ को भूल जाता है। मानव ने इसी प्रकृति तथा अपने हृदय की सहानुभूति के सामञ्जस्य से साहित्य का सृजन किया है। प्राकृतिक दृश्यों की आनन्दानुभूति से मानव-हृदय मे जो स्फूर्ति आयी, उसी ने शब्दों मे उतर कर साहित्य का स्वरूप धारण कर लिया। मानव-हृदय मे, सुख या दुःख के आवेग को उसका कोई भी सयम समाहित नही कर पाता और वह शब्दो, सकेतो और विभिन्न मूर्त आधारो में आकार पाने को आकुल हो उठता है। यही साहित्य की सृष्टि का श्रीगणेश होता है। समय और सुविधा के अनुसार ज्यो-ज्यो मानवीय विद्या, बुद्धि और अध्ययन का आधिक्य होता गया, त्यों-त्यो साहित्य भी परिपुष्ट और प्राञ्जल होता आया। अब विचार करने की बात यह है कि मानव-हृदय मे सर्वप्रथम सुख की अनुभूति उदित हुई या दुःख की, जिसके फलस्वरूप उसने साहित्य-सर्जना की।

भारतीय-साहित्य मे वेदो को आदि ग्रन्थ और ईश्वर-प्रणीत माना गया है। वेदो के प्रायः सभी स्वर आनन्द तथा विश्व-कल्याण की भावना एव भक्ति से परिपूर्ण हैं। उनको पढने से मनुष्य को उत्साह और उल्लास मिलता है, क्योकि उनमे जीवन की स्फूर्ति और गति है, उसकी निष्क्रिय निराशा नही। वेदो के अध्ययन के पश्चात् हम सहज ही इस निश्चय पर पहुँच जाते हैं कि मानव ने प्रभात का आलोक प्रथम देखा और कुरूप काली रात बाद मे। सिंदूरी साड़ी सहित उषा, बाल-सूर्य की प्रकाशमयी कोमल-किरणो तथा प्रभाती गाते हुए मुक्त विहग को देखकर ही मानव-हृदय मे एक सुख की अनुभूति का कम्पन उठा होगा जो मंगल-गानो के रूप मे अब तक हमारे सामने विद्यमान है। ये

मगल-गान उसकी सुख तथा उत्साह की अनुभूति के सुफल हैं, दुःख और निराशा के नहीं, क्योंकि सयोग के बाद वियोग, जन्म के बाद मरण की भाँति ही सुख के बाद दुःख की अवतारणा स्वाभाविक है—किसी सुखमयी अनुभूति के अभाव का ही नाम दुःख है। अस्तु, सुख की प्रथम स्थिति निर्विवाद और निश्चित है। वेदो के बाद भी हमारे साहित्य का आदर्श बदला नही। नाटक सासारिक जीवन का प्रतिविम्ब है, अतएव सस्कृत के प्रायः सभी सुन्दर नाटक आनन्द की आकाक्षा से आलोकित, सुखान्त हैं। इसका यह आशय नही कि हमारे साहित्य-स्रष्टाओ ने जीवन की कठिनाइयों को, उसके दुखों का—उसकी विवशताओ का—कोई अध्ययन और अनुभव नही किया, वरन् उन्होंने उनका चित्रण जान-बूझ कर साहित्य मे नही आने दिया।

जीवन मे सुखों की अपेक्षा दुखो का ही आधिक्य है। फिर भीतर, वाहर और साहित्य मे भी निराशा और दुःख पाकर जीवन भारस्वरूप हो जावेगा, उल्लास और आनन्द की स्थिति का अस्तित्व ही मिट जावेगा, एक ऐसी विरक्ति का भाव मानव मे व्याप्त हो जावेगा जो जीवन की ममता की अपेक्षा उपेक्षा का ही प्रसार तथा प्रचार करेगा। जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव मनुष्य को आस्थाहीन, आलसी और अकर्मण्य वना देता है, जो समाज और राष्ट्र का सवसे वड़ा अभिशाप है। इसी कारण प्राचीन साहित्यकारों ने जीवन को चैतन्य, प्रसन्न और सावधान बनाये रखने के लिए जिस साहित्य की सृष्टि की वह सौदर्य और आनन्द की भावना से परिपूर्ण है। जीवन की कठिनाइयोंका निदर्शन कराते हुए भी वे उनसे वचने और उनका सामना करने की स्वस्थ और सुरुचिपूर्ण

साहित्य-साधना का ही समर्थन करते हैं। वास्तव मे, जीवन मे विश्वास और भव्यभावना के साथ प्रवेश करना ही श्रेयस्कर है। 'भूत-प्रेत' की भावना पर विश्वास करनेवाले लोग हनुमान की भावना का अविश्वास करके जीवन मे सफलता नही पा सकते, यह निश्चय है। अस्तु, जीवन की विरक्ति और उदासीनता एव निराशा की अपेक्षा जीवन की आसक्ति और आशा तथा आनन्द का ही साहित्य मे समावेश होना चाहिए, ताकि जीवन अपनी सभी स्थूल अपूर्णताओं की पूर्णता साहित्य मे पा सके और मनुष्य-मात्र उस साहित्य के अध्ययन से जीवन के प्रति निराशा तथा नश्वरता का भाव छोड़ कर प्रसन्नता से जीवन-पथ पर अग्रसर हो सके। जीवन के लिए साहित्य की यही सबसे बड़ी उपयोगिता है।

आज-कल जीवन और साहित्य के सम्बन्ध मे तरह-तरह के विचार प्रचार पा रहे हैं, यहाँ हमे उन्ही पर विचार करना है। साहित्य ही क्यो, कला के सभी स्वरूपो का जीवन से लगाव हम देखेगे और जीवन के माध्यम से उसका मूल्याङ्कन करेंगे। कला और जीवन के सम्बन्ध का विवाद बहुत पुराना है। इटैलियन लेखक क्रोचे का मत है कि कला कलाकार की सृष्टि है, उसका वही पूर्ण ज्ञाता है। कला मे उसकी अभिव्यञ्जना स्वरूप पाती है, इसलिए केवल कलाकार ही यह जान सकता है कि उसकी कला कहाँ तक पूर्णता का स्पर्श कर सकी है। कलाकार की सृष्टि का मानव-जाति उसी प्रकार उपयोग कर सकती है जिस प्रकार वह किसी सुहावने सूर्यास्त तथा शुभ्र हिमानी-छटा का। कलाकार अपने चारो ओर फैले हुए जीवन की अभिव्यक्ति के लिए बाध्य नही है। वह ईश्वर है, चाहे जैसे अपनी सृष्टि का सृजन करे। इस प्रकार कला और

जीवन का कोई सम्बन्ध वह मानने को तैयार नही है। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो 'कला कला के लिए' का स्वर ऊँचा करके उसे एकदम जीवन के बन्धन से मुक्त कर देना चाहते हैं। उनके लिए किसी वस्तु का सौन्दर्य ही पर्याप्त है, उसकी उपयोगिता तथा विशिष्टता से उनको कोई मतलब नही। आस्कर वाइल्ड का कहना है कि "कला का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नही है। कलाकार को आचार से कोई सहानुभूति नही होती। नैतिक सहानुभूति रखना कलाकार की शैली का अक्षम्य अपराध है।" कलाकार अपने आनन्द की स्फूर्ति मे कला को आकार देता है, समाज और ससार पर उसके प्रभाव की उसे कोई चिंता नही रहती। सौदर्य की प्रतिमा कला स्वय आनन्दायिनी होती है और कला मे यही आनन्द अपेक्षित है और कुछ नही। एक प्रकार के ऐसे भी लोग हैं जो आर्थिक आधार पर कला और जीवन का सबध आँकना चाहते हैं। धनी और गरीब दो वर्गों मे से एक को कला का उपादान बनाने की उनमे धुन है। उनका यह भी कहना है कि कला अब तक केवल सपन्न व्यक्तियो के मनोरजन और सुख का साधन रही है, अस्तु उसे अब शोषितों, पीड़ितों और उपेक्षितो की ही सेवा करनी चाहिए।

हमारा वर्तमान कलाकार भी इसी फेर मे है कि वह कला का कौनसा स्वरूप अपनावे? यद्यपि इसमे किसी प्रकार की कठिनाई नही होनी चाहिए, क्योंकि यह तो अध्ययन और अनुभव के बल पर हम देख ही सकते हैं कि जो कुछ कहा जा रहा है वह ठीक है या ग़लत। वास्तव मे कला क्या इतनी सकुचित है कि वह जीवन के आशिक सत्य का ही प्रतीक बन सके, या उसमे सम्पूर्ण जीवन को भर लेने की

भी शक्ति है ? कहना होगा कि कला मे जीवन अपनी सारी शोभा, सौंदर्य और आकार के साथ अभिव्यक्ति पा सकता है, क्योंकि कला और जीवन का सबध अन्तर और बाह्य का है। जो कुछ भी बाह्य है वह अन्तर में समा सकता है और जो अन्तर है वह बाह्य के माध्यम से ही निर्मित हुआ है। हमारे अन्तर्जगत् की सभी भावनाएँ इसी बाह्य-जगत् की प्रेरणा से बनी हैं। इस प्रकार कला और जीवन मे किसी प्रकार के विच्छेद की संभावना ही नही रह जाती। जीवन केवल रूप और आकार का स्पर्श करता है और कला हृदय का स्पर्श करती है। इस संस्पर्शिता को मार्मिक बनाने मे कलाकार की व्यक्तिगत साधना सहायक होती है, क्योकि जब वह अपनी अनुभूति के अनेक अरूपों को स्वरूप देना चाहता है तब उसके पीछे उसका कुछ न कुछ उद्देश्य अवश्य ही रहता है या रहना चाहिए। कला का महत्व इसी अभिव्यक्ति के उद्देश्य मे छिपा रहता है। यदि कलाकार प्रत्यक्ष जीवन की सारी विवशताओं, आपदाओं और कुरूपताओ का पुनर्निर्माण करके उन्हे व्यक्तिगत सीमा से ऊँचे उठा कर प्राणि-मात्र तक विस्तृत कर देता है, तो वह एक सफल कलाकार है और उसकी कला जीवन की निकटतम और उच्चतम वस्तु है। व्यक्तिगत अनुभूति को व्यापकता मे उतार कर ससार के सामने रखनेवाले कलाकार की कला का सदैव जीवन से सीधा सम्बन्ध रहा है और रहेगा। कला की प्रत्येक कृति मे कलाकार का व्यक्तित्व और उस काल का मानसिक वातावरण अवश्य ही वर्तमान रहेगा। कला और कलाकार का विच्छेद सम्भव नही, क्योंकि एक के बिना दूसरे का कोई अस्तित्व ही नही हो सकता। कला के लिए जो सत्य है

कलाकार के लिए जो सत्य है, वह कोई काल्पनिक या अध्यात्मिक सत्य नही है, वह तो जीवन का ही सत्य है, जिसके कारण दोनो का अस्तित्व है।

जीवन और कला के इस सात्विक सम्बन्ध का अर्थ यह कदापि नहीं है कि कला जीवन की प्रतिलिपि है। जीवन का ठोस और कुरूप कला मे कुछ भी नहीं रहता। दैनिक व्यवहार मे आनेवाली स्थूल बाते उसमे नही के बराबर होती हैं, उसमे आनन्द और सौदर्य का आधिक्य रहता है, क्योकि कला मे प्रत्यक्ष जीवन नहीं वरन् जीवन की प्रतीति रहती है। सत्य, सुन्दर, मगल, आनन्द, प्रेम, झूठ, अनिष्ट, दुःख और घृणा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, फिर जीवन, जो इनके मेल से निर्मित है, इनसे कैसे अलग किया जा सकता है? कला हमारी इन्ही भावो की अभिव्यजना है, इससे वह जीवन से सदैव सम्बन्धित रहेगी। हाँ, इतना अन्तर अवश्य ही रहेगा कि जीवन प्राकृतिक उपादानों का सघात है, उपज है, और कला आत्मा की। जीवन की शक्ति समय और स्थान पर निर्भर है और कला की भावों मे। जीवन सीमित है, कला विस्तृत। जीवन की भौतिकता का साधन शरीर है और आध्यात्मिकता का—मानसिक सस्कृति का—साधन कला है, इसीलिए कुरुचि और कुरूपता का उसमे कोई स्थान नहीं है।

अन्त मे यह बता देना उचित होगा कि कला की शक्ति सश्लेषणी है, विश्लेषणी नहीं। वह जीवन की प्रत्यक्ष आशिकता के अधिकार मे बन्दी नहीं है, वह तो इसके बीच में एक समग्रता, पूर्णता की खोज है। यद्यपि कला के लिए जीवन का कुछ भी त्याज्य नहीं है, किन्तु वर्गों के

बीच की खाई को वह अपनी रग-रेखा से भर लेती है। कला के लिए विश्व मे कुछ भी अन्तर-विच्छेद नही है, सभी एक शृखला से बँधा है। सामजस्य और समन्वय ही कला की प्राण-प्रवेगिनी शक्तियाँ हैं। उसका क्षेत्र बहुत व्यापक है; वह न तो केवल मनोरजन की वस्तु है और न केवल उपयोगिता की। वह जीवन का एक ठोस अनुभव और सत्य है, जीवन की सबसे बड़ी आवश्यकता है। इस जीवन मे जो वैषम्य है, विकार और अन्धकार है, उसका कारण ज्ञान का अभाव नहीं है; वरन् इसका कारण है आत्मा की सकीर्णता। कला इसी आत्मा को अपने संजीवन से सदैव सीचने की चेष्टा करती है। कला की सीमा मे आकर हमारी सभी शक्तियाँ, प्रवृत्तियाँ क्रियमाण हो उठती हैं और हम जीवन के चरम लक्ष्य की ओर अग्रसर होते हैं। साराशतः कला हमे आँखो मे प्रसन्नता का प्रकाश, चित्त मे चैतन्य की एक अलौकिक आभा, शरीर में सुख का स्पन्दन, भावना मे एक भव्यता और मन में एक उल्लासमयी मादकता तथा समाज और संसार के बीच समानता का सदेश देनेवाली जीवन की दिव्य अनुभूति है।

कला में सौन्दर्य का आदर्श

सौन्दर्य का कोई निश्चित आदर्श नही। मनुष्य की बुद्धि और वृत्ति के अनुसार उसका स्वरूप बदलता जाता है। हमारे किसान भाइयो को चिल्ला-चिल्लाकर, नगाड़े बजा-बजाकर नौटकी गाने मे सौन्दर्य का जो आभास प्राप्त होता है, उससे शिक्षित भाइयो का जी मतला उठता है। इसके विपरीत जब कोई कलावत वीणा मे कोई जटिल राग बजाता है, तो उस्ताद लोग वाहवाही देने लगते हैं, पर हमारे किसान भाई उसे सुनकर मन मे यह धारणा करते हैं कि यह बाबू लोगो की खामखयाली के सिवा और कुछ नही। उन्हे उसमे कोई रस नही मिलता। किसानों की बात दूर रही, हमारे शिक्षित भाइयो मे अधिकाश रसज्ञ ऐसे मिलेंगे, जिन्हे गजलो की गलेबाज़ी और 'अर्थ-चमत्कार' के आगे राग-रागिणी की विचित्र स्वर-लहरी तुच्छ जान पड़ती है। पर राग-रागिणी के स्वर-वैचित्र्य के अनुपम रस से जिनका मन भीग गया है, उन्हे ग़ज़लो से कितनी नफरत हो जाती है, विशेषज्ञो को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं।

स्त्री के रूप के सबध मे भी यही बात कही जा सकती है। अशिक्षित लोगो मे से अधिकाश ऐसे मिलेंगे, जो अपेक्षाकृत गोरे रगवाली स्त्री को ही रूपवती समझ बैठते हैं, भले ही वह फूले गालोंवाली अथवा चिपटी नाकवाली हो। शिक्षित सम्प्रदाय मे भी ऐसे लोगों की सख्या अधिक पाई जायगी, जो ऐसी स्त्री को रूपवती समझेंगे, जो गोरे रग

-की हो, और जिसकी नाक और गाल बहुत कदाकार न हों। जिस व्यक्ति की रुचि इससे कुछ बढ़ जायगी, वह स्त्री की आँखों के सौंदर्य का भी ख़याल करेगा—वे बड़ी हैं या छोटी, गोल हैं या कैसी हैं। पर रुचि के विकास का अत नहीं। जिसकी रुचि इससे भी बढी-चढी होगी, वह स्त्री के सौंदर्य पर और भी सूक्ष्म रूप से विचार करेगा। वह इस बात का भी ख़याल करेगा कि उसकी आँखो से बुद्धिमत्ता टपकती है या फूहड़पन। पर कवि की रुचि इस सबध मे सबसे अधिक पूर्णता को प्राप्त होती है। वह इन सब बातों का ख़याल करते हुए मुख्यतः इस बात पर गौर करेगा कि उसकी आँखों मे करुणा तथा स्नेह का भाव झलकता है या नही। बुद्धि, करुणा तथा स्नेह से रहित सौंदर्य को वह अत्यत घृणित समझेगा। वेश्या का हृदयहीन अनुपम शारीरिक सौंदर्य इसीलिए उसके हृदय पर असर नही कर सकता। प्राकृतिक सौंदर्य का भी यही हाल है। पूर्णिमा की ज्योत्स्ना शिक्षित तथा अशिक्षित, सभी व्यक्तियों को प्रिय मालूम देती है। पर अमावस का निबिड़ कृष्ण रूप उच्च श्रेणी के कवि के अतिरिक्त और कौन देख पाता है ?

कोयल की कूक सभी को मीठी लगती है। पर सारस के कर्कश कठ के मद-कल-कूजन का रस कालिदास की-सी प्रकृतिवाले कवि के अतिरिक्त और कौन ले सकता है ? और तो क्या, विशेष-विशेष अवसरो पर कौओ के कल-कल कलोल से भी कालिदास तृप्त होते थे। मेघदूत मे इसका उल्लेख है। इसका कारण क्या है ? जिस प्रकार वेश्या का पूर्णता-प्राप्त शारीरिक सौंदर्य सहृदयताहीन होने से कवि को नही भाता, उसी प्रकार किसी-किसी अवसर पर कोयल की कूक की मिठास से उसका

जी नही भरता, उसे दुःख तथा अधकार के कड़वे रस की चाह होती है। इसी कारण केका-रव, कपोत-कूजन और सारस की बोली मे उसे इतना स्वाद मिलता है। वसत की बहार का मज़ा सभी लूटते हैं। उसके सौंदर्य के सबध मे किसी को द्विधा या सशय नही होता। पर आषाढ के प्रथम दिवस मे रामगिरि से 'वप्रक्रीड़ापरिणतगजप्रेक्षणीय' मेघ का अनुपम सौदर्य देखकर केवल कालिदास की प्रकृति के कवियों का मन ही उछलता है। रवीन्द्रनाथ भी अनेक समय वसत की मद-विह्वलता से उकताकर घनघटाच्छन्न मेघ की निबिड़ कालिमा के प्रति आकर्षित हुए हैं, और कूजन-गुंजन से ऊबकर रुद्र का वज्रमत्र सुनने के लिए लालायित हुए हैं। 'वर्षशेष' शीर्षक एक कविता मे वह लिखते हैं—

एवार आसोनि तुमि वसतेर आवेश-हिल्लोले
पुष्पदल चुमि,
एवार आसोनि तुमि मर्मरित कूजने-गुजने,
धन्य-धन्य तुमि।
रथचक्र घर्घरिया ऐसोछो विजयी राज सम
गर्वित निर्भय,
वज्रमत्रे कि घोषिले बूझिलाम, नाहि बूझिलाम,
जय, तव जय!

"इस वार तुम वसत का आवेश–हिल्लोल साथ मे लेकर, पुष्पदलो को चूमते हुए नही आये, इस वार तुम मर्मरित कूजन-गुंजन के साथ नही आये—हे नव वर्ष, तुम धन्य हो! तुम अपना रथ-चक्र घर्घरित करके विजयी राजा की तरह गर्वित तथा निर्भय होकर आये हो, तुमने

अपने वज्र मे क्या मत्र घोषित किया, यह मैं समझकर भी नही समझा। तुम्हारी जय हो।"

रुद्र का यह जो दिल दहलानेवाला, आतक से कपित करनेवाला, प्रलय का ताडव-नृत्य मचानेवाला भीषण रूप है, इसका अनिर्वचनीय सौंदर्य कितने लोग देख पाते हैं? हमारे शृंगार-रसिक कवि वसत का अपमान करनेवाले इस कवि को अवश्य ही पागल समझेंगे। पर कालिदास, ग्येटे और रवीन्द्रनाथ की तरह जिन महाकवियो की आत्माएँ मानव-जीवन के दुःखमय रस मे पूर्ण रूप से डूब गयी हैं, वे अन्य रसों का स्वाद लेते हुए भी इस वज्र-कठिन रस से ही तृप्त होते हैं। इस रस मे ही उन्हे सौदर्य का अपूर्व आदर्श दिखलाई देता है। कुछ भी हो, हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि सौदर्य का कोई निश्चित आदर्श नही। मनुष्य की रुचि का विकास पूर्णता की ओर जितना बढता जाता है, सौदर्य के सबध मे भी उसकी धारणा उसी रूप में जटिल होती और बदलती जाती है। यह धारणा कभी-कभी इतनी उद्‌भट हो जाती है कि साधारण मनुष्य भ्राति से विमूढ होकर चकित रह जाता है। टालस्टाय और रवीन्द्रनाथ का कहना है, कि किसानों के छल-रहित, सभ्यता के ढकोसले से हीन, प्राकृतिक सरलता से स्निग्ध हृदय की जो आभा उनके चेहरों पर झलकती है, उसका सौदर्य स्त्री के सौदर्य की तरह सरस है। कालिदास की भी यही धारणा है। उन्हे हमने अश्लीलता का पुजारी और बाज़ारू कवि ही समझ लिया है। पर वह सौदर्य के समस्त रूपों मे उसका रस लेना जानते थे। हम तो उन्हें एक श्रेष्ठ योगी समझकर नित्य मन-ही मन प्रणाम करते हैं। इसमे सदेह नही कि

वह यौवन-मद-मत्ता, विलासिनी ललित वनिताओं के रूप पर मुग्ध हुए हैं; पर भ्रू-विलासानभिज्ञ कृषक-रमणी का सरल सौंदर्य भी तो वह देख पाये हैं—

त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः।

"कृषि का फल तुम्हारे ही अधीन होने से तुम्हें भ्रुकुटि-रचना का कौशल न जाननेवाली, सरल स्वभाववाली ग्रामीण वधू प्रीति-स्निग्ध दृष्टि से देखेगी।"

कैसा सरल, स्निग्ध, आडंबरहीन, स्वाभाविक, मधुर भाव इन दो पंक्तियों में भरा है! ऐसे ही कवि अनेक रूपों की सौंदर्य-छटा से आँखों को तृप्त करके अंत को एक रूप में मिलित सौंदर्य के लिए लालायित होते हैं। ऐसे कवि धन्य हैं। ऐसे कवि योगी हैं, अलकापुरी का आनंद-मय राज्य ऐसे ही सर्वदर्शी, सर्वप्रेमी कवियों के लिए है।

मेघदूत काव्य को यदि हम सौंदर्य-कला की प्रदर्शिनी कहें, तो अनुचित न होगा। इस काव्य के श्लोकों में सौंदर्य के अनेकानेक भिन्न-भिन्न रूप प्रस्फुटित किये गये हैं। इसका प्रत्येक श्लोक विशेष-विशेष रूप के सौंदर्य को व्यंजित करता है। सौंदर्य किन-किन स्वरूपों में अपने को व्यक्त कर सकता है, इस काव्य में यही दिखलाया गया है। जिस प्रकार अव्यक्त के एकमेवाद्वितीयम् रूप से अनेकानेक रूप फूट निकले हैं, उसी प्रकार निविड़ कालिमा-लिप्त वर्षा ऋतु के एक रूप से अभिनव सौंदर्य-मंडित, कितने ही भिन्न-भिन्न रूपों की अभिव्यक्ति होती है। पूर्व मेघ में यही दिखाया गया है। आरंभ में ही—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकोलो यथा त्वा
वामश्चायं नदति मधुर चातकस्ते समर्वः ।*

तथाः—

आकैलासाद्विसकिसलयच्छेदपाथेयवतः
सपत्स्यते नभसि भवतो राजहसाः सहायाः ।†

इस ढग से सौदर्य-लोकगामी मेघ की यात्रा प्रीतिपूर्ण विदाई के साथ मगलमय कल्याण से अभिषिक्त होती है। इसके वाद सौदर्य की लहरी-पर-लहरी इठलाती, बल खाती हुई नाचती चली जाती है। सब से पहले यक्ष के प्रवास-स्थान चित्रकूट में ही सौदर्य की यह विचित्र प्रदर्शिनी आरभ होती है। चित्रकूट के संबध मे यक्ष मेघ से कहता है—

कालेकाले भवति भवतो यस्य सयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहज मुञ्चतो वाष्पमुष्णम् ।

समय-समय पर (प्रतिवर्ष) तुम्हारा सयोग प्राप्त होने से सुदीर्घ विरह के कारण तुम्हारे जल के रूप मे उष्ण भाप छोड़कर अपना स्नेह व्यक्त करता है। इस भाव मे कैसा अनुपम सौदर्य है! जब पदार्थ के वर्णन मे ही कवि ने सजीव मनुष्य के हृदय से भी अधिक करुणा-पूरित स्नेह प्रस्फुटित किया है, तब जीवित प्राणियो के सवध मे कहना ही क्या

---

*अनुकूल वायु तुझे मद-मंद डुला रही है, और तेरे वामपार्श्व में चातक गर्व के साथ कूजन कर रहा है।

†कमल की नाल को पाथेय के रूप में ले जाते हुए राजहस कैलास-पर्यंत तेरा साथ देते रहेंगे।

है ! इसके बाद रत्नच्छायाव्यतिकर (रत्नो की रग-बिरगी कांतियों के समूह) के समान इन्द्रधनुष की छटा का सौदर्य दिखलाया गया है। यक्ष कहता है, इन्द्रधनुष की आभा से तेरा श्याम शरीर गोप-वेषधारी कृष्ण के मोर के रग-विरगे पखों के समान शोभित होगा।

फिर आगे चलकर पृथ्वी माता के स्तन के समान स्थित आम्रकूट-पर्वत के वनचर-वधू द्वारा सेवित कुज का वर्णन करके यक्ष कहता है—

रेवा द्रक्ष्यस्युपलविषमे विंध्यपादे विशीर्णाम्।

विंध्य-पर्वत के उपल-विषम पाद-मूल मे विशीर्ण (थकित) हुई रेखा नदी को देखेगा। सौदर्य की अनिर्वचनीयता की हद हो गयी ! पर्वत के तट-प्रात मे वडे-वडे भारी पत्थरो के आघात से थकित हुई नदी को ब्रज-वनिता की तरह खिन्न वतलाकर कवि ने प्राकृतिक शृंगार-रस की मोहिनी वरसा दी है। इस प्राकृतिक लीला मे जो रस है, वह किसी कामिनी की कमनीयता मे नही पाया जा सकता। वही सौदर्य एक दूसरी जगह प्रस्फुटित हुआ है—

तीरोप्रान्तस्वनित सुभगं पास्यसि स्वादु यस्मात्

सुभ्रूभङ्ग मुखमिव पयो वेत्रवत्याश्चलोर्मि।

तटप्रात मे शिलाभिघात के कारण मधुर गर्जन करनेवाली, चंचल उर्मि के कारण भ्रू-विलास प्रदर्शित करनेवाली वेत्रवती नदी का सलिल-रूपी अधर-सुधा पान करेगा।

वन-गज के मद से वासित, जंबू-कुंज के तीर मे बहनेवाले जल को ग्रहण करता हुआ, सारंगो से सूचित मार्ग से होकर चलता हुआ, सजल-नयन मोरो द्वारा अभिनदित होकर विश्राम करता हुआ,

वन-नदियों में पानी बरसाता हुआ, उद्यानों में अपने नव-जलकणों से यूथिका-जालकों को सेचन करता हुआ, गालों में उत्पन्न हुए स्वेदकणों को बार-बार पोछने से क्लांत कर्णोत्पलवाली मालिनों को शीतल छाया प्रदान करके उनसे क्षण काल के लिए परिचित होकर जब मेघ मन्द-मन्द गति से चला जाता है, तो उस दृश्य में कितना अनुपम सौन्दर्य नहीं भरा रहता ! अभिराम सौन्दर्य की कैसी अविराम धारा बही जा रही है ! केवल रमणी के रूप और उसकी विलासिता में ही सौन्दर्य नहीं है। प्यासों को पानी पिलाने में, उत्कंठितों को दिलासा देने में, तप्तों को छाया प्रदान करने में जो माधुर्य है, उसके आगे कोई सौन्दर्य नहीं ठहर सकता।

स्वार्थ से अधिक सौन्दर्य परमार्थ में है, और परमार्थ से अधिक मनोहरता अनन्त के प्रति उद्देश्यहीन श्रद्धाजलि प्रदान करने में है। इसी कारण जब यक्ष मेघ को सन्ध्या के समय उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में, पूजा के अवसर पर अपने मधुर गर्जन से नगाड़ा बजाने का उपदेश देता है, तो इस भाव में भी अपूर्व सौन्दर्य स्थित है। केवल यही नहीं। उत्सव के भाव में रमणीयता अवश्य है, पर युद्ध में लड़ने वाले वीरों के सिरों के सरासर धड से अलग होने में भी सौन्दर्य है। सामान्य कवि इस दृश्य में वीभत्सता देखेंगे, पर श्रेष्ठ कवि को यह दृश्य भी नयनानदकर प्रतीत होता है। इसलिए कवि लिखता है—

राजन्याना सितशरशतैर्यत्र गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्यवर्षन्मुखानि ।

(ब्रह्मावर्त-प्रदेश में) गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन ने शत-शत तीक्ष्ण

बाणो की वर्षा से राजाओं के सिर उसी तरह पृथ्वी मे गिराये, जिस प्रकार तुम अविरल धारा-पात से कमलो को बरसाकर नीचे गिराते जाते हो। इस सौन्दर्य-पिपासु कवि की रुचि कितनी विकसित हो गयी है! वह सर्वत्र सौन्दर्य ही सौन्दर्य देखता है। कोमलता मे और काठिन्य मे, विलासिता मे और वीरत्व मे, प्रकाश मे और अन्धकार में, जीवन मे और मृत्यु मे, पाप मे और पुण्य मे वह सौन्दर्य के प्रति ही दृष्टि रखता है।

ऊपर जिस सौन्दर्य का वर्णन किया है, वह सुख-दुःख, आशा-नैराश्य, हास्य-क्रन्दन इन द्वद्वो से जर्जरित पृथ्वी माता का सौन्दर्य है। पूर्वमेघ का सपर्क पृथ्वी-तल से है। पर उत्तर-मेघ का सौन्दर्य इन सब द्वद्वो से परे है। उसमे सौन्दर्य के नाना रूप एक आनन्दमय रूप मे आकर मिलित हो गये हैं। वह स्वर्ग का सौन्दर्य है। उस सौन्दर्य-लोक मे क्षुधा, तृष्णा, पाप-ताप, जरा-मृत्यु की हाय-हत्या सुनने मे नही आती। वहाँ के सबध मे कहा गया है—

'आनन्दोत्थ नयनसलिल यत्र नान्यैर्निमित्तैः'—वहाँ आनन्द के कारण ही आँसू उमडते हैं, अन्य कारणों से नही। पर पृथ्वी के सौन्दर्य मे—'पुष्पे कीटसम हेथा तृष्णा जेगे रय',—फूल मे कीडे की तरह तृष्णा जगी रहती है।

हर्ष की बात है कि हिन्दी के कवि भी सौन्दर्य के इस उच्च आदर्श का अनुभव करने लगे हैं। 'विशाल भारत' की किसी-एक सख्या मे एक नवीन कवि की 'सौन्दर्य' शीर्षक कविता छपी थी। कवि लिखता है—

बहती है सौन्दर्य-सुधा उस राजमार्ग के तट पर—
जहाँ खड़ी भिक्षा को दुखिया, अचल मलिन बढाकर।

कैसा सुन्दर भाव है ! यह भाव चाहे पहले कितने ही कवि व्यक्त कर चुके हो, पर इसका सौन्दर्य कभी पुराना नही हो सकता। राजमार्ग मे कितने बड़े-बड़े धनी और मानी व्यक्ति चलते हैं, कितने ही धनी परिवारो की सुन्दरी स्त्रियाँ आती-जाती हैं ; पर निष्कपट हृदय की सरल आँखो मे उसकी शोभा केवल एक उपेक्षिता, दीना, मलिना भिखारिणी को लेकर है।

रूप कुरूप हुआ जाता है उस शोभा के आगे—
जहाँ निधन के धन दो बालक सोते-सोते जागे !

इसमे अत्यन्त सरलता के साथ गुप्त सौन्दर्य का स्वच्छ स्रोत बहाया गया है। निधन के धन, भगवान के पोष्य दो पुत्र—दो बालक—दो भाई ऊषा का निर्मल हास्य व्यजित करके अरुणोदय की तरह जाग रहे हैं। राफेल के 'मेडोना' के चित्रो की अपूर्व छाया इस भाव में झलकती है। इस भाव मे मौलिकता भी यथेष्ट है।

सुन्दरता की सीमा देखो, उल्लघित उस थल है—
श्रमित कृषक के कृश शरीर से जहाँ बरसता जल है।

यह भाव मौलिक न होने पर भी सुन्दर है।

बरस रही अविराम मोहिनी, उस छाया के नीचे—
पतिता के अनुताप-कणों ने जहाँ कमल-दल सीचे।

हृदय की कोमल करुणा और आत्मा की अनुपम उदारता का जो अभिनव सौन्दर्य यहाँ व्यक्त हुआ है, वह अनन्य है। रवीन्द्रनाथ की 'पतिता' कविता का भाव इसमे पाया जाता है। इस कविता से यद्यपि कवि की श्रेष्ठता का परिचय नहीं मिलता, पर उसकी सहृदयता

टपकती है।

अन्त मे हम फिर यह कहना चाहते हैं कि सौन्दर्य का कोई निश्चित मापदड न होने पर भी उसका झुकाव और विकास एक विशेष आदर्श की ओर होता है। वह आदर्श है आत्मा, हृदय और मस्तिष्क का सयोग, सुन्दर, मङ्गल और सत्य का सामञ्जस्य।

नाट्य-कला

साहित्यकार की लेखनी से प्रसूत कलाओं मे नाटक सब से श्रेष्ठ है। आत्म-प्रेरित भावों का जितना सम्पूर्ण, जितना सचित्र एवं सजीव चित्रण और प्राणमय प्रकाशन नाटक मे सम्भव है, उतना सम्भवतः कला के अन्य स्वरूप मे नहीं। जिस आवेग की अनुरूपता से भावों का उद्वेलन कलाकार के अन्तर्जगत् मे होता है, और ध्येय-विशेष की पूर्ति के उद्देश्य से उसकी आत्मा जिन भावों को आकार देने के लिए लालायित हो उठती है, उन सब का एक पूर्ण प्रतिपादन और अवतरण नाटक के अतिरिक्त अन्य कलात्मक अभिव्यक्ति मे नहीं हो सकता।

भावना के विकास-क्रम मे प्रेरणा के प्रवेग की क्रिया तथा प्रतिक्रिया की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि भावना मे आकार पाने और आकार देने की एक स्वाभाविक क्षमता निहित है। यदि भावना की यह क्रियात्मक सत्ता कलाकार मे जागरित न हो, तो इसके बिना उसकी कला ओस की तरल दूधिया बूँदो के अलावा और कुछ नहीं है और वह स्वयं चेतना-शून्य मिट्टी की मूर्ति-मात्र है। यद्यपि यह निश्चित है कि भावना-सृष्टि-क्रिया से विकसित जो स्वरूप कलाकार के मानस-पट पर अंकित होता है, वह स्थायी नहीं होता, क्योंकि उसका निर्माण जल की सतत प्रवाहित धारा पर एक क्षणिक रेखा की भाँति ही होता है। कलाकार उसी क्षणिकता को अपनी प्रतिभा से सँजोने की चेष्टा करता है। भावना के ऐसे ही क्षणिक तथा अस्पष्ट मानसिक प्रभाव को, उसके स्वरूप को,

आकार देने मे ही कला की सार्थकता है और अन्य मानसों मे उसे ज्यो का-त्यों पहुँचा देने मे ही कलाकार की सफलता है। इस प्रभाव की अभिव्यक्ति के प्रधानतया दो प्रकार हो सकते हैं। पहला प्रकार है हाव-भाव एव शारीरिक चेष्टा से मनोगत भावना को प्रकट करना और दूसरा प्रकार है किसी आधार को—चाहे वह ध्वनि का हो, रग का हो, लेखनी का हो अथवा अन्य कोई—अपनी अन्तस्तल की भावना को प्रति-रूप देने के लिए व्यवहार मे लाना। इनमे से प्रत्येक प्रकार अन्तर्जगत् की अस्पष्ट तथा सूक्ष्म स्थिति को उसकी पूर्ण परिणति के साथ बाह्य जगत् मे साकार करने की चेष्टा करता है। किन्तु नाटक मे इन दोनो प्रकारों का सहयोग कलाकार की आन्तरिक भावना को, एक स्पष्ट प्रति-छवि देने की क्षमता को, और भी अधिक बढा देता है। काव्य मे पठन से, उसके मानसिक सचालन से ही कवि के मनोगत भावो का दर्शन सम्भव है। चित्र मे केवल निरीक्षण ही आधार-भावना की साकारता का साथी है। सगीत मे ध्वनि के अन्त के साथ भावना की प्रतिमा का भी विसर्जन हो जाता है। शिल्पी की कला मे भावना की एक ही स्थिति का निर्माण होता है। इस प्रकार कला के भिन्न-भिन्न स्वरूपों और अभिव्यक्तियो के परीक्षण से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि उसके प्रत्येक स्वरूप मे भावना का आशिक स्वरूप ही अकित हो सकता है, सम्पूर्ण नही। इस स्थिति मे अपेक्षाकृत अभिव्यक्ति की पूर्णता पर ही हमे सन्तोष करना होगा, और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कला मे नाटक की महत्ता सर्वोपरि मानी जाती है। नाटक मे अन्य सभी कलाओं से कलाकार की भावना अधिक साकार और सजीव हो पाती है। ऊपर

हम देख चुके हैं कि काव्य-कला तथा चित्र-कला मे भावना की पूर्णता का चित्र सम्भव ही नही है, क्योंकि चित्र का देखकर भावाभिव्यक्ति का बोध होता है और काव्य को पढ या सुनकर, किन्तु नाटक मे इन दोना बातों का सम्मिश्रण होता है। नाटक का 'देखना' भी चित्र देखने से अधिक प्रभावोत्पादक होता है, क्योंकि चित्र की भाँति उसमे केवल एक ही भाव का मूक संवेदन नही रहता, एक ही परिस्थिति का अपरिवर्त्तनीय चित्रण नही रहता। इसमे मूल भावना के दृश्य एव कर्णगोचर व्यापार के साथ-ही-साथ उसकी सहकारिणी भावनाएँ भी प्रकट होती रहती हैं, जो मूल भावना के स्वरूप को, अधिक भास्वर एव सम्पूर्ण बना देती हैं। इसी प्रकार नाटक का 'सुनना' भी काव्य के सुनने से अधिक प्राजल एव प्रभावपूर्ण होता है, क्योंकि स्वर-साधना के साथ उसमे क्रियात्मकता भी रहती है, जिससे भिन्न-भिन्न स्थितियाँ प्रकाशमान होती जाती हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि काव्य-कला तथा चित्र-कला के मिला देने से भी नाट्य-कला की अभिव्यक्ति-क्षमता उसमे नही आ सकती, क्योंकि वास्तव मे नाटक सगीत, नृत्य, काव्य तथा चित्र की, अपने पूर्ण रूप मे, सयुक्त-कला है। वह अपने ही मे पूर्ण और अपने ही आधार पर स्थित एक ऐसी समन्वयात्मक व्यजना है, जिसमे जीवन का अन्तर और बाह्य अपने सम्पूर्ण दुराव को छोड़कर स्वाभाविक रूप मे ससार के सामने अवतरित हो जाते हैं।

यह तो हुई नाटक मे अभिव्यक्ति के परिमाण-निदर्शन अथवा भावना-चित्रण की साकारता एव सार्थकता की बात, अब उसके प्रभाव-प्रसार की बात पर भी कुछ विचार करना आवश्यक है। नाटक अपनी

प्रभाव-प्रसार की क्षमता और स्थायी स्फूर्ति की उपयोगिता मे भी अन्य सभी कलाओं से बढकर है, क्योंकि उसका प्रभाव कानो और आँखों द्वारा हमारे हृदय मे प्रवेश पाता है, और यही दोनों ग्रहण-तन्तु भावना को ग्रहण करने मे सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

काव्य का प्रभाव श्रवण की इसी ग्रहण-तन्त्री पर झकृत होता है और श्रवण-तन्तु के सुकोमल तारो में ध्वनि के प्रपात से एक कलित कम्पन, एक स्फूर्तिमय स्पन्दन होता है, जिसकी प्रतिक्रिया मस्तिष्क के समस्त स्नायुओं को विचलित एव प्रकम्पित करने मे समर्थ होती है। तभी उस एक ध्वनि की अनेक प्रतिध्वनियाँ देह के समस्त स्नायुओं मे एक चेतन लहर की भाँति परिव्याप्त हो जाती हैं। काव्य के अतिरिक्त अन्य श्रव्य-कलाओं की प्रभावोत्पादकता शरीर-विज्ञान की इसी सक्रियता पर निर्भर है, इसमे सन्देह नहीं। सगीत तथा समस्त ललति-कलाएँ श्रव्य की इसी सवेदनशील ग्रहण-प्रवृत्ति पर ही भावना के प्रभाव-सचालन में सफल होती हैं।

दृश्यात्मक कलाओं की भावात्मक अपील दृश्य चेतना से सम्बन्ध रखती है। दृश्य-द्वार की झीनी यवनिका पर चित्रपट की भाँति एक आकार प्रतिम्बिबित होने लगता है, जिसका प्रतिआकार हमारे मानस-पट पर अकित होकर भावना को सचालित कर देता है, और हम उस भावना की साकारता का साक्षात् करते हैं। नाटक मे श्रव्य और दृश्य दोनों प्रकार की ग्रहण-शक्तियों की अपेक्षा रहती है। यही दोनो द्वारों से हृदय मे प्रवेश भी पाती हैं, दोनों द्वारो से सचालित भावना प्रभाव की भूमि पर आकर एकाकार हो जाती हैं। दृश्य-द्वार से बिम्ब का प्रवेश

होता है, भाव का सजीव तथा साकार चित्र आता है, और श्रव्य-द्वार से ध्वन्यात्मक साकारता, वाणी का प्रतिबिम्ब। इन्ही दोनों का सम्मिलन, दोनो की अद्वैत एकता, भावना की प्राण-प्रतिमा हैं। नाटक मे भावना की सुबोधता का यही मगलमय सहयोग होता है, एक द्वार से आलोकमय आकार आता है और दूसरे से वाणी—एक से वीणा का रूप प्रतिबिंबित होता है, दूसरे से राग की ध्वनि और लय प्रतिध्वनित होती है। इस प्रकार अब हम अनुमान कर सकते हैं कि प्रभाव-उत्पादन की कितनी मार्मिक एव विस्तृत शक्ति नाट्य-कला मे निहित है। इसके अतिरिक्त नाटक का प्रभाव सर्वसामान्य भी होता है। अक्षर-ज्ञान-विहीन हृदय से लेकर अक्षर-सम्राट हृदय पर एक ही सामान्य प्रभाव की परिणति होती है। युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, सभी भावना के कम्पन से विचलित हो उठते हैं। काव्य की अपील ग्रहण करने के लिए साक्षरता और शिक्षा की अतीव आवश्यकता पड़ती है। चित्र की मार्मिकता समझने के लिए चित्रकला के सूक्ष्म तथा स्थूल सिद्धान्तो की सहायता लेनी पडती है। सगीत की भाव-भूमि पर जाने के लिए ताल-लय तथा राग-रागिनी की अपेक्षा रहती है। नृत्य मे भी कुछ ऐसी ही समस्या सामने आती है, किन्तु नाटक की रग-स्थली मे ज्ञान और अज्ञान का गगा-जमुनी सगम होता है। इसको समझने के लिए, इसको अनुभव करने के लिए, कुछ सीखने की विशेष आवश्यकता नही पडती; क्योंकि इसका प्रभाव आमोदमय, सार्वजनिक और सीधा होता है।

हिन्दी के नाट्य-साहित्य का इतिहास बहुत छोटा है, क्योकि नाटक-रचना का क्षेत्र हमारे साहित्य मे बहुत ही परिमित और अपूर्ण है।

जिस प्रकार भारतेन्दु ने सब से प्रथम हिन्दी-साहित्य मे नवीन अभिव्यक्तियो का सूत्रपात किया, हिन्दी मे नवीन प्रकाश-धाराओ को जन्म दिया, उसी प्रकार उन्होने सच्चे अर्थों मे हिन्दी नाटकों का भी सूत्रपात किया। इस प्रकार भारतेन्दु वास्तव मे हमारे साहित्य के सोलहों कलाओ के साथ पूर्ण इन्दु हैं। आज जो भी हमारे साहित्य मे अकुरित, पल्लवित एव फलित है, वह बहुत-कुछ भारतेन्दु के मार्ग-प्रदर्शन का फल है। भारतेन्दु के पहले हिन्दी मे मौलिक नाटक थे ही नही। हाँ, अपर भाषाओ से अनूदित कुछ नाटक अवश्य थे। अतः हिन्दी-नाट्यकला का स्वरूप क्या और कैसा होना चाहिए, यह समस्या न तो सामने आई थी और न उस पर विचार ही हो पाया था। भारतेन्दु ने इस समस्या पर अपना विचार केन्द्रित किया। सबसे पहले उन्होने सस्कृत, बॅगला तथा अगरेजी नाटको के अनुवाद किये और उनसे ऐसे-ऐसे तत्वो को निकाला, जिनसे हिदी-नाटकों की भावी रचना सम्भव हो सकी। इन्हीं तीनो नाट्य-कलाओ की सश्लेपणात्मक प्रेरणा से उन्होंने हिंदी-नाट्य-कला की रूप-रेखा निश्चित की। उनके नाटकों की भाव-भूमि वैविध्यपूर्ण है। वह जीवन, समय और समाज के विस्तृत क्षेत्रो और पहलुओ तक प्रसरित है। देश-भक्ति, सामाजिक अवस्था, राजनीतिक परिस्थितियाँ आदि सभी समकालीन समस्याओं पर उनके नाटक प्रकाश डालते हैं। सस्कृत, बॅगला एव अगरेज़ी नाटको की भाँति हृदय-पक्ष की अत्यन्त गम्भीर आलोचना, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, जीवन के घात-प्रतिघात भारतेन्दु के नाटको मे नहीं हैं, किन्तु यह कमी उनमे विशेष खटकती नही, क्योंकि उनकी नाटक-रचना हिन्दी की प्रथम नाटक-रचना है, जिसकी

कला का सूत्रपात एव क्रमिक विकास भी उसके साथ-साथ ही चलता है। उनके नाटक केवल नाटको का स्वरूप ही निदर्शन करते हैं और जनता मे एक तरह से अपने कहे जा सकनेवाले नाटको के प्रति आकर्षण का भाव जगाते हैं। यही उनकी सबसे बड़ी सार्थकता तथा सफलता है। अपने नाटको द्वारा चाहे भारतेन्दु ने नाट्य-कला का निरूपण न किया हो, किन्तु नाटक का निर्माण उनकी अपनी अमर देन है। उनके प्रायः सभी नाटक रगमंच पर सफलतापूर्वक अभिनीत होते हैं।

भारतेन्दु के बाद हिन्दी के नाटक-साहित्य मे कोई विशेष महत्व की उल्लेखनीय रचना नही हुई। यद्यपि नाटक लिखने वालो की एक बहुत बड़ी सख्या इतिहास मे है, किन्तु इसमे से किसी ने असाधारण प्रतिभा का परिचय नही दिया। इधर बहुत दिनो के बाद 'प्रसाद' की तूलिका ने नाटक की नवीन अभिव्यक्ति तथा रूप-रेखा उपस्थित की, जिसके फल-स्वरूप नाटक-साहित्य मे एक नवीन जीवन और जागृति का सचार हुआ। हिन्दी के नाटक-साहित्य मे यदि कहीं इस कला की पूर्ण प्रतिभा का विकास हुआ है, तो वह है 'प्रसाद' की भावात्मक लेखनी मे। मौलिकता और प्रतिभा की दृष्टि से 'प्रसाद' ही हिन्दी के एक मात्र सफल एव साहित्यिक नाटककार हैं। 'प्रसाद' के नाटकों की रग-भूमि भारत के अतीत गौरव की प्रतिच्छाया है। उन्होने अपनी भूमिका में लिखा भी है—'मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अश मे से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराने की है, जिन्होने हमारी वर्त्तमान स्थिति को बनाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है।' यही उन्होंने किया भी है। 'प्रसाद' अपने काव्य तथा नाटकों मे प्रधानतः करुणा के

चित्रकार हैं। भाव-रूप के वे ऐसे चित्रकार हैं, जो अपने वर्त्तमान की गति मे, परिस्थिति एव स्थिति मे, बहुत कम निवास करता है। सम्भवतः इसीलिए उनकी करुणा प्रशान्त, दिव्य एव आस्थावान है, जो वर्त्तमान के अनिश्चित एव परिवर्त्तनशील प्रयोगो से विचलित और अव्यवस्थित नही होती। सागर के ऊपरी धरातल पर जो विचलन, जो प्रगति तथा जो चपल-स्थिति रहती है, वही समय के वर्त्तमान की होती है। किन्तु अतीत तो अतल की अचल एव गम्भीर तह है, जो प्रसुप्त चेतना की आन्तरिक शान्ति मे आबद्ध रहती है। 'प्रसाद' की साधना इसी अतल-स्पर्शी करुणा की सिद्धि मे केन्द्रित थी। इसी कारण उनके नाटकों की कर्मभूमि भारत के अतीत की गोद मे प्रस्थित है। बौद्धकालीन इतिहास का जितना मार्मिक चित्रण 'प्रसाद' के नाटको मे हुआ है, उतना भारत की किसी भी भाषा के साहित्य मे शायद नही हुआ। 'प्रसाद' नाटककार के रूप मे हमारे अतीत के भग्नावशेष मे प्रसुप्त गौरव, महत्व तथा ममत्व के पुजारी और उस स्थिति के उद्बोधक आचार्य हैं।

नाटक का मुख्य उद्देश्य रगमच पर आरूढ रहता है। जो अभिनय के शरीर मे अपनी भावनामयी आत्मा को आसीन कर सके, वही सफल एव सजीव नाटक है। कुछ लोगो का विचार है कि 'प्रसाद' के नाटक मच पर नही खेले जा सकते। यद्यपि इसमें सत्याश काफी है, किन्तु यह बात पूर्ण सत्य नही, क्योकि बहुत थोडा-सा ऊपरी परिवर्त्तन कर देने से ही उनके नाटक अभिनीत हो सकते हैं। उनके नाटकों मे इस 'दोष' के कई कारण हैं। एक तो उनकी भाषा काव्य एव कल्पना के क्लिष्ट तथा दुरूह जाल में इतनी जकडी रहती है कि साधारण जनता आसानी से

उसे हृदयगम नहीं कर पाती। दूसरे उसी अतीत के अनुरूप शृगार और अभिनय-सामग्री एकत्रित करने और वही वातावरण उपस्थित करने मे भी अनेक बाधाएँ है। अतीत की वेश-भूषा, रीति-रिवाज, आचार-आचरण, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ और अभिनेता-अभिनेत्रियो की तत्कालीन रूप-आकृतियाँ आदि का सानुरूप चित्रण करना लेखनी से जितना सुगम है, मच पर उतना ही दुरूह है। इसके अतिरिक्त जिस धरातल पर लेखक अपने पाठक को ले जाता है, अभिनेता उस धरातल पर साधारण दर्शक को नही ले जा पाता। इसमे दोष दर्शको का है, नाटककार का नही। आर्य-सस्कृति की विहार-भूमि पर अन्य सस्कृतियो के आगमन से एक नवीन भाव-धारा देश मे परिव्याप्त हो गई है, जो भारत को उसके अतीत से इतनी दूर बहा ले गई है कि उसे राम-रहीम का सास्कृतिक भेद भी भूलने लगा है। अस्तु, 'प्रसाद' के नाटकों का मच पर खेला जाना या न खेला जाना लेखक तथा जनता दोनों के ऊपर बराबर निर्भर करता है। जो भी हो, साहित्यिक नाटककारो मे उनका स्थान अभी तक अन्यतम है।

'प्रसाद' के बाद गुप्तजी, प्रेमचन्द तथा बदरीनाथ भट्ट के नाटक हमे मिलते हैं। किन्तु इन नाटको को लेखको से सम्पूर्ण सहानुभूति न मिलने के कारण जनता ने भी विस्मृति की गोद मे छोड़ दिया। प० लक्ष्मीनारायण मिश्र ने दो-तीन नाटक लिखे हैं, जो कई बार रंग-मच पर भी खेले जा चुके हैं। उन्होने नाटक के स्वरूप का एक आधुनिक आदर्श भी उपस्थित किया है। उनकी बताई हुई रूप-रेखा पर भारतीय नाटक सफलता से चल सकते हैं। मिश्रजी अपनी कला मे प्रसिद्ध

नाटककार इब्सन से प्रभावित हुए हैं। मिश्रजी के नाटकों की भूमिका देखने लायक होती है। उनमे उनका अपना भी एक मानसिक अभिनय रहता है। वे स्यय कई जगह एक पात्र के रूप मे बोल उठते हैं— 'द्विजेन्द्रलाल राय से वढकर अन्तःकरण का अंधा साहित्यकार मेरी दृष्टि मे दूसरा नहीं आया।' इसी प्रकार के अहम्मन्यतापूर्ण आक्षेप और भी अनेक विशिष्ट साहित्यिकों पर हैं। इससे मिश्रजी अपनी गम्भीरता खो देते हैं और यह भी प्रकट करते हैं कि साहित्यकार के दायित्व को भी ऐसा लिखते समय शायद उन्होंने भुला दिया। साहित्य की सब से बड़ी देन तो नम्रता एव सात्विकता है। फिर भी उनके नाटक बहुत सुन्दर और सफल हैं, इस बात से इन्कार नही किया जा सकता।

मिश्रजी के बाद हिन्दी के आधुनिक नाटककारो मे श्री गोविंद-वल्लभ पन्त का नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय है। नाट्य और अभिनय दोनों कलाओं मे दक्ष होने के कारण पन्तजी के नाटक जितने पढने मे सुन्दर लगते हैं, अभिनय मे भी लगभग उतने ही सफल हैं। आपके बहुत से नाटकों का सफलतापूर्वक अभिनय हो चुका है। अन्यतम लेखकों मे सर्वश्री जगन्नाथप्रसाद 'मिलिन्द' (प्रताप प्रतिज्ञा), हरिकृष्ण 'प्रेमी' (रक्षा-बन्धन), उदयशकर भट्ट (अम्बा), पृथ्वीनाथ शर्मा (दुविधा), सेठ गोविन्ददास (सेवा-पथ) आदि का उल्लेख किया जा सकता है। इनमे से पहले तीन लेखकों के नाटक ऐतिहासिक कथा-वस्तु को लेकर लिखे गये हैं। 'प्रसाद' के नाटको की अपेक्षा वे जहाँ भाषा और भावों की सरलता लिए हुए हैं, वहाँ उनके मुक़ावले मे इनमें गाम्भीर्य भी कम है। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि इनसे हिन्दी-नाटक को कोई नयी दिशा

मिली या नाट्य-कला का इनमे श्रेष्ठतर निरूपण हुआ है। पिछले दो लेखकों ने अवश्य सामाजिक उपकरण लेकर अपने नाटको को गढा है और उनमे दृष्टिकोण तथा मौलिकता का समावेश भी किया है। श्री पृथ्वीनाथ शर्मा के नाटको मे जहाँ वातावरण कथा-वस्तु के साथ बिल्कुल बुना हुआ चलता है, उसकी सकीर्णता नाट्य-तत्त्व को विशेष विकसित नही होने देती। किसी हद्द तक अगेय होकर भी वे नीरस नही हैं। सेठजी के नाटक अभी बहुत साधारण ही हैं। नाट्य-कला का विकास उनमे कुछ भी नही हो पाया है। इसके अलावा अन्य कई लेखको ने भी नयी दृष्टि से नाटकों का प्रणयन किया है, यद्यपि नाट्यकला की दृष्टि से कोई उल्लेखनीय सुधार या उन्नति उनमे हम नही पाते।

जिस प्रकार काव्य मे बड़ी कविता का स्थान छोटे गीत ने, कथा-साहित्य मे उपन्यास का स्थान छोटी कहानी ने लेने की सफल चेष्टा की है, उसी प्रकार नाटक की आत्मा भी एकाकी नाटक की एकाकी सीमा में सकुचित होने की आशका से आकुल है। इस क्षेत्र मे डा० रामकुमार वर्मा, श्री भुवनेश्वर, श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' और श्री उदयशकर भट्ट के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। कहानी और एकाकी नाटक की यह प्रधानता हमारे वर्त्तमान जीवन की अत्यधिक सघर्षमयी परिस्थितियो का फल है। आज का जीवन इतना सघर्ष-निगूढ, इतना पदार्थमय हो गया है कि मानव को विश्राम के इने-गिने क्षण निकालना भी कठिन हो गया है। फिर पढने-लिखने की बात कौन कहे। यदि व्यक्ति कुछ क्षण अपनी व्यस्तता मे से निकाल भी लेता है, तो वह स्वभावतः छोटी चीज़ों के ही प्रति आकर्षित होगा। इसके अलावा यह

विज्ञान का युग है। प्रत्येक वस्तु मे, प्रत्येक कला मे, विज्ञान ने अपने स्वेच्छापूर्ण परिवर्त्तन किये हैं और नाटक भी इससे वंचित नहीं रह सका। यदि सचमुच देखा जाय, तो विज्ञान नाटक को एकदम निगल ही गया है। चित्रपट विज्ञान की ही उपज है। आज का चित्रपट सभ्यता के इतिहास मे एक विशेष घटना है। चाहे जो भी हो, जब तक मनुष्य में भावना तथा चेतना का स्रोत प्रवाहित है, तब तक विज्ञान अपनी सारी बौद्धिकता से उसे यन्त्र नहीं बना सकता। वह बराबर अपनी आत्मा के निगूढ पीडन तथा सवेदन को अपनी काव्य-कला और नाट्य-कला से अभिव्यक्ति देता चला जायगा, ऐसा हमारा विश्वास है।

कहानी-कला

स्पष्ट अभिव्यक्ति ही मनुष्यता की महत्ता है। भाषा के सकेतो पर आरूढ व्यञ्जना ही मनुष्य और पशु की भिन्नता का साधन है। मानव, स्वभाव से ही अपने को व्यक्त करना चाहता है, वह जीवन और जगत मे जो कुछ देखता, समझता अथवा अनुभव करता है, उसकी मनोरम अभिव्यक्ति के लिए लालायित हो उठता है। अपनी उन सचित और साधनाशील अनुभूतियो को दूसरे तक पहुँचाने के लिए उसे किसी एक विशेष पद्धति का आधार लेना पड़ता है। इसी अभिव्यक्ति की अभिरुचि ने ससार की परिवर्तित सामाजिक तथा कलात्मक परिस्थितियो के अनुसार मानवीय व्यञ्जना के अनेक स्वरूपो को जन्म दिया है, इसमे सन्देह नही। कहानी ऐसी ही अनन्त अभिव्यक्तियों मे एक अभिव्यक्ति है।

हमारा भौतिक जीवन स्थूल रूप से केवल घटनाओ का एक आख्यान है। जन्म के साथ जीवन का पथ प्रारम्भ होता है और मरण के छोर पर पहुँच कर थम जाता है। जन्म-मरण के इन्ही दोनो छोरो के बीच मे हम अपना जीवन सँजोते हैं। इस अनिश्चित यात्रा मे मनुष्य को अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं, अनेक प्रकार के दृश्य देखने को मिलते हैं, किन्तु यह आवश्यक नही कि यह सब उसे एक विशेष तारतम्य या क्रम से ही प्राप्त हो। जीवन की अनेक घटनाएँ व्यक्ति के लिए कोई आशय नही रखती, किसी भावना विशेष की मार्मिकता का

उद्घाटन नही करती, कोई अभिनव सन्देश नहीं दे पाती और वह स्वभावतः उन्हें कुछ दिन बाद विस्मृति के अन्धकारमय-आलय मे छोड़कर आगे बढ जाता है। जब कलाकार इन्हीं घटनाओं को अपनी व्यक्तिगत जीवन-साधना से अनुप्राणित करके एक क्रम, अभिप्राय और सीमा दे देता है, तब वे स्वय अपनी सयमित समष्टि मे सजीव हो उठती हैं और उनका चित्र समाज तथा ससार के सामने स्पष्ट हो जाता है। ऐसा चित्र, जिसमे पहली रेखा से अन्तिम रेखा तक के बीच की सभी रेखाएँ एक ही भाव विशेष की ओर सकेत करे, एक ही विचार की चरितार्थता का आग्रह करे तथा एक ही मार्मिकता को ममता दे, कहानी की संज्ञा पा सकेगा। काव्य में यही स्थान गीत का है। गीत में व्यक्तित्व की भावना का अनुरजन अधिक रहता है, किन्तु कहानी मे जीवन और जगतव्यापी सामूहिक चेतना का।

आत्म-अभिव्यञ्जन के साथ दूसरों की मनोभावनाओं का परिचय भी कहानीकार के लिए आवश्यक होता है। अपने मनोभावों की तुष्टि व्यक्ति अपने परिचितों तथा प्रियजनों के बीच मे पा सकता है; किन्तु दूसरे के मनोभावों तथा प्रवृत्तियों का परिचय देने के लिए उसे कहानी की शरण लेनी पड़ती है। मनुष्य की परापेक्षित प्रवृत्तियाँ इतनी शक्तिशाली होती हैं कि वे अपनी एकान्त सीमा मे सीमित नही रह सकतीं, वे तो अपने विस्तार तथा प्रसार मे सारे ससार को समेट लेना चाहती हैं। इस विस्तार की व्याकुलता ही से कथा-साहित्य की सृष्टि होती है। मानवता तथा सभ्यता के विकास के साथ कहानियों के विषय तथा स्वरूप बदलते रहते हैं, किन्तु उनका मूल तत्त्व वैसा ही स्थिर रहता है।

कला का सत्य विज्ञान तथा इतिहास नहीं है, क्योंकि विज्ञान प्रयोगों की सफलता का साथी है और इतिहास जो था या है उसका साक्षी है। कलाकार के सत्य की सीमा सम्भाव्य के भविष्याञ्चल को भी स्पर्श करती है। आचार्यों ने इसी कारण ज्ञान-साहित्य और शक्ति-साहित्य की कल्पना की है। शक्ति-साहित्य का दूसरा नाम सृजनात्मक साहित्य है। ज्ञान का साहित्य जीवन का तात्त्विक दर्शन देता है और शक्ति का साहित्य जीवन की गति। तर्क की उलझनों से दब कर ज्ञान-साहित्य कुछ दिनो के बाद जीर्ण पड़ जाता है; किन्तु शक्ति-साहित्य मानव के रागों तथा विरागों के साथ नित्य नूतन होता जाता है। कहानी की कमनीयता तथा मनमोहकता जीवन के प्रारम्भ से लेकर जीवन के अन्त तक बराबर बनी रहती है। महाभारत की द्रौपदी की कथा पढ़कर हमारे हृदय मे आज भी करुणा के वही भाव उठते हैं, जो भगवान कृष्ण के हृदय में उस समय उठे थे। नानी की कहानी के पश्चात् शिक्षा की कहानियों का चाव बढ़ता है। यौवन मे मादकता की माधुरी से पूर्ण सरस कहानियाँ ही मनोरजन कर पाती हैं, वृद्धावस्था मे धार्मिक कहानियों का आकर्षण अधिक हो जाता है। आशय यह है कि मानव-हृदय अपनी अवस्था और स्थिति के अनुसार किसी न किसी प्रकार की कहानियो का सदैव प्रेमी बना रहता है। मानव की इसी प्रवृत्ति के सदुपयोग से कहानीकार अपने भावों को मानवता तक निरन्तर पहुँचाता रहता है। कला तो कलाकार और शेष मानवता के बीच की साधना की शपथ है, तभी तो कलाकार मनुष्य होता है और मनुष्यता मे कला की कल्पना।

कथा-साहित्य का निर्माण सब से पहले कहाँ और किस रूप मे

हुआ, इसका निर्णय विवाद का विषय है। इसका प्रचार सब देशो और कालों में था, यह निर्विवाद है। अतीत की गोद मे सोये हुए चाहे जिस वसत-काल मे कहानी की कली खिली हो, किन्तु उसके सौरभ से आज तक सारा ससार विभोर है, यह निश्चय है। कुछ विद्वानों का मत है कि मिस्र देश के मरुस्थल मे यह लता पहले-पहल लहलहाई। कुछ विद्वान इसे तमसा के किनारे की उर्वर भूमि की उपज मानते हैं। भारतीय साहित्य मे सबसे पहले ऋग्वेद मे सुन्दर कहानियाँ मिलती हैं। धीरे धीरे इन कहानियो के अधार पर देश मे लोक-कल्याण की भावना से ज्ञान-वर्धिनी कहानियों का सृजन हुआ। इस प्रकार साहित्यिक कहानियों का प्रादुर्भाव जातको तथा पंचतत्र से माना जाता है। संस्कृत मे हितोपदेश, वृहत्-कथा-मजरी, कथासरित्सागर, वैताल-पंचविंशति आदि ग्रन्थ भी कथा-साहित्य के विकास के रूप मे लिये जा सकते हैं। उसी समय फारसी, अरबी ग्रीक आदि भाषाओं मे भारतीय कहानियों के अनुवाद भी हुए। ससार के सभी देशों मे कहानी लिखने की प्रथा लेखनकला के साथ चल पडी थी, किन्तु भारत का इसमें विशेष प्रयत्न प्रतीत होता है।

आधुनिक कहानियों का प्रारम्भ उन्नीसवी सदी से होता है। इसके मूल मे फ्रेंच तथा रूसी साहित्य-साधकों की साधना का सम्बल है। कहानी-कला को इस उच्च तथा आदर्श स्थान मे प्रतिष्ठित करने का श्रेय इन्हीं दो देशों को है। इनमे फ्रान्स के फ्लोबेर, मोपासा, ज़ोला, बालज़ाक, आनातोल फ्रास आदि और रूस के डास्टाएव्सकी, टाल्सटाय, गोर्की तथा चेखाव के नाम स्मरणीय हैं। हिन्दी में भी इसी समय

कहानी लिखने का श्रीगणेश हुआ। इन्शाअल्ला ख़ाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' लिखी, सदल मिश्र तथा लल्लूलाल ने कुछ पौराणिक कहानियाँ अनुवादित की, जो कहानियाँ अवश्य हैं, किन्तु कलाशून्य ककाल मात्र। आगे चलकर कहानी-साहित्य अन्तःसलिला सरस्वती की भाँति कुछ समय के लिए लुप्त हो जाता है, किन्तु गदर की भीषणता तथा हलचल के साथ एक बार पुनः उसकी करुणामयी सजलता बाहर फूट पड़ती है। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द की 'राजा भोज का सपना' कहानी मे हम कथा-साहित्य की साकारता का साक्षात् करते हैं। भारतेन्दु काल मे भी कहानियों का विस्तार न बढ सका, केवल दो-एक अनुवाद हुए, जिनमे काशीनाथ का 'लैम्ब्स टेल्स फ्राम शेक्सपियर' का अनुवाद उल्लेखनीय है। हमारे कथा-साहित्य का आरम्भ बीसवीं सदी की अनुवादित कहानियों मे अपना निश्चित रूप पा लेता है। किशोरीलाल गोस्वामी, गिरिजाकुमार घोष और आचार्य द्विवेदीजी उस समय के अधिनायक थे। इधर सन् दस के बाद अनुवादित कहानियों की अपेक्षा लोगों ने मौलिक कहानियों की ओर अपनी ममता देनी प्रारम्भ कर दी और फलस्वरूप हिन्दी में मौलिक कहानियों का सूत्रपात हुआ। प्रसाद की प्रथम कहानी 'ग्राम' इस ओर का प्रथम प्रयास है। उसके बाद प्रेमचन्द के उदय मे कहानी-साहित्य की उज्ज्वलता का अन्यतम उदाहरण हमे मिलता है। प्रेमचन्द के साथ कहानी लिखने वाले कौशिक, गुलेरी तथा 'उग्र' साहित्याकाश मे उसी तरह चमकते रहे, यथा चन्द्र के साथ तारे।

आज जैनेन्द्रकुमार, भगवतीप्रसाद वाजपेयी, सुदर्शन, विनोदशंकर

व्यास, भगवतीचरण वर्मा, पहाड़ी, अज्ञेय, अश्क, यशपाल तथा उषा-देवी मित्रा अपनी अपनी आत्म-चेतना के अनुसार कहानी साहित्य का भण्डार भर रहे हैं। इनके अतिरिक्त सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में अनेकों ऐसी कहानियाँ देखने को मिलती हैं जिनमें कहानी-कला का वास्तविक आदर्श तथा निर्वाह पूर्ण रूप से पाया जाता है।

आधुनिक युग में छोटी कहानियों का आग्रह बहुत बढ़ता जाता है। इसका मुख्य कारण हमारी बहुत-कुछ सामयिक परिस्थितियाँ हैं। आज के मानव की दैनिक जटिलता बहुत बढ़ गई है। वह जीवन से क्लान्त और उदास है। जीवन-संघर्ष से इस तरह ऊब कर मानव की यह स्वाभाविक इच्छा होती है कि वह मनोरंजन के शान्त स्पर्श से अपने को कुछ विश्राम दे, अपने जीवन की उलझनों को थोड़ी देर के लिए भुला दे और इस यथार्थ की दुनिया से उठकर किसी कल्पना-लोक में विहार करे। ऐसी स्थिति को सहज सुलभ करनेवाला सबसे सरल साधन है कहानी या उपन्यास। कहानी और उपन्यास दोनों इस वस्तु-जगत की सरल से सरल एवं सुलभ से सुलभ अभिव्यक्तियाँ हैं, जिनमें मनोरंजन के साथ शिक्षण का भी तत्त्व निहित रहता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मनोरंजन का आशय सन्तोष की उस हँसी से है, जो क्षण भर के लिए मनुष्य को नवीन स्फूर्ति तथा नवीन उत्साह से ओत-प्रोत कर दे, जो भावना के पुनीत प्रकाश में जीवन की शाश्वत शान्ति का आश्वासन दे और जो दे जीवन की ज्योति अपनाने का साहस। आज का युग विज्ञान का युग है। विज्ञान के इस विकास ने हमारे जीवन में यथार्थ का यह ठोस तत्त्व मिला दिया है, जो स्वच्छन्दता

से अधिक हमारे दैनिक स्वातन्त्र्य मे बाधा उपस्थित करने लगता है; हमें मशीन के साथ दौड़ाने का उपक्रम करता है। विज्ञान के कोड़ो से आज का जीवन चलता नहीं, भागता है, पग-पग पर लड़-खड़ाने से डरता है। इस स्थिति मे मानव का भावना की कोमल भूमि से हटकर तर्कना की कठिन भूमि पर आ जाना कोई आश्चर्य की बात नही है। यही कारण है कि आज का जीवन कोमलता की अपेक्षा कठोरता का उपासक है। इस परिस्थिति मे ज्यों-ज्यों मनुष्य को अव-काश की कमी होती गई, त्यों-त्यों उसने थोड़े से थोड़े समय मे अपने अनुरजन के उपायो की खोज करनी प्रारम्भ कर दी। छोटी कहानी इस उपाय का एक प्रमुख अग और उपादान है। उपन्यासो के पढने तथा लिखने मे समय की अधिक अपेक्षा रहती है, किन्तु कहानी मे कम। सम्भवतः कहानी की रचना कलाकार के ऊपर उतना उत्तर-दायित्व भी नही रखती, जितना उपन्यास-रचना। नये लेखकों का इसके प्रति अधिक आकर्षण होने का शायद यही कारण हो, यद्यपि कहानी-कार को भी उपन्यासकार की भाँति ही जीवन की व्यापक तथा विस्तृत परिस्थितियो और मनोभावो का ज्ञान आवश्यक है।

यदि कहानी एक ही विचार या एक ही भाव अथवा एक ही घटना की मार्मिक अभिव्यक्ति है, तो उपन्यास अनेकों विचारों तथा भावो एव घटनाओं की एक सम्बद्ध तथा सम्पूर्ण व्यञ्जना है। दोनों के मूल तत्त्व मे कोई अन्तर नही है। दोनों ही मानव जीवन के पथ पर चलते हैं। साधारणतः दोनों का साम्य या वैषम्य, दोनों का सम्बन्ध या विच्छेद उसी भाँति है, जिस भाँति एक नदी और उसकी

लहर का होता है। नदी भी सागर की ओर बराबर गतिशील है और लहरे भी उसी ओर बढती हैं; किन्तु दोनो अपनी-अपनी अवस्था तथा गति में स्वच्छन्द हैं। इसी प्रकार छोटी कहानी और उपन्यास दोनो मे मूलगत समानता होने पर भी दोनो की परिस्थिति और अभिव्यक्ति मे बड़ी विपमता पाई जाती है। कहानी मे यदि मानव-जीवन की झलक है—एक दृष्टिबिन्दु है, तो उपन्यास मे जीवन की पूर्ण प्रकाश-रेखा और उसका पूर्ण चित्र। कहानी यदि जीवन-कमल का एक दल है, तो उपन्यास पूर्ण कमल। इन तथ्यों से पता चलता है कि समय की सुविधा तथा आकार-प्रकार के अतिरिक्त कहानी और उपन्यास की स्थितियों मे भी अन्तर है। कहानी जीवन की एक विशेष अवस्था का चित्र है और उपन्यास जीवन की पूर्णता का। अतएव उपन्यास का जीवन की भाँति व्यापक होना भी आवश्यक है, किन्तु कहानी के लिए यह इतना अपेक्षित नहीं। कहानी की विशेपता उसके कथानक मे नहीं, उसका कार्य जीवन, जगत तथा प्रकृति के छोटे-छोटे किन्तु सुन्दर और मार्मिक चित्र उपस्थित करना है। उपन्यासकार जिन छोटी घटनाओं को महत्त्व देता है, कहानीकार उन्हें बिलकुल छोड़ सकता है; क्योंकि यदि उपन्यास जीवन का पूर्ण चन्द्र है, तो कहानी उसकी एक कोमल किरण। उपन्यास मे आधार-स्वरूप जीवन की अपेक्षा अधिक रहती है और कहानी मे भाव की। आधुनिक कहानी की विशेपता किसी भाव या प्रभाव का कलात्मक चित्रण है। उपन्यासों मे अनेक चरित्रों का चित्रण रहता है, किन्तु कहानी मे एक या दो से भी काम चल जाता है। उपन्यास मे चरित्रो का क्रम-विकास तथा जीवन की परिस्थितियो के

प्रभावों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भी आवश्यक है, किन्तु कहानी मे जीवन के किसी एक अश की अभिव्यक्ति ही पर्याप्त होती है। कहानी के पात्रों का परिचय पाठक को कवि-सम्मेलन मे आये हुए कवियो के तात्कालिक परिचय से अधिक नही मिलता। कवि की मधुर-स्वर-लहरी की भाँति वे कभी-कभी हमारे एकान्त क्षणो मे गूँज अवश्य उठते हैं, किन्तु व्यक्त रूप मे नही, केवल भाव रूप मे। अस्तु, हम कह सकते हैं कि कहानी और उपन्यास की भिन्नता दोनो के उद्देश्य, कथानक, रचना-कौशल, चित्रण की प्रणाली आदि को लेकर भी उतनी ही है, जितनी उनके आकार-प्रकार की। कहानी की अपनी विशेषता तथा विशिष्टता है और उपन्यास की अपनी।

पोए ने छोटी कहानी की विवेचना करते हुए लिखा है कि उसके पढने का समय दो घटे से किसी प्रकार भी अधिक नही होना चाहिए, क्योंकि उससे पूर्णता का प्रभाव बिगड़ जाता है। ठीक भी है, किसी कहानी को क्रमशः पढने से भावना की तन्मयता तथा तीव्रता मे अवश्य ही अन्तर पड़ जायगा। कहानी की भाँति रसोद्रेक के लिए गीत का छोटा होना आवश्यक है। कहानी के छोटे होने का यह अर्थ नही कि उसमे केवल एक घटना, जीवन का केवल एक ही अंश रहे, वरन् यह कलाकार के चुनाव पर निर्भर है कि वह कितनी घटनाओ तथा चरित्रों के मार्मिक अंश को एक ही भाव-सूत्र मे बाँध कर उपस्थित कर सके। कलाकार कहानी की विषयवस्तु के साथ अपने रचना-कौशल के सहयोग से जीवन की आशिक अभिव्यक्ति मे जीवन की पूर्णता का आभास दे सकता है। सूर्य अपनी सारी किरणों के साथ सूर्य है; किन्तु

उसकी एक किरण भी उसी की है। उपवन का सारा सौन्दर्य फूलों की समष्टि से अपनी अभिव्यक्ति पाता है, किन्तु एक अकेला फूल भी उस सौन्दर्य का एक अंश अपने में समेटे रहता है, इसे कौन नहीं जानता ! इसी प्रकार कहानीकार अपनी साधना और सयम से जीवन के एक क्षण मे जीवन-व्यापी भावना को सजीव कर देता है। कहानी छोटी हो या बड़ी, यदि लेखक अपने आधार-भाव की सगति तथा सामञ्जस्य अपने चारों ओर के वातावरण से करता चलेगा, तो वह कहानी अवश्य ही सरस और सुन्दर होगी, अन्यथा नही। समय, उद्देश्य और चरम परिणति की एकता मे कार्य की सफलता सन्निहित रहती है। इसी एकता की प्रधानता का ध्यान रखते हुए कहानीकार सफल हो सकता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जो कहानीकार अपने रचना-कौशल की प्रतिभा से अपने कथानक की एकता का सामञ्जस्य रखते हुए कहानी को गतिशील करेगा, वही कहानी लिखने के उद्देश्य की पूर्ति करने मे सिद्ध होगा। कहानी का उद्देश्य है मानव-मन के सूक्ष्म रहस्यो तथा व्यापारों का उद्घाटन। इसके लिए आवश्यक है कि लेखक जीवन का स्थूल और सूक्ष्म अध्ययन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से करे और जीवन के सार्वजनीन एव व्यापक तथ्यों का परिचय प्राप्त कर ले।

साहित्य में विषाद्-रस

मनुष्य की सुकुमार वृत्तियो की अभिव्यक्ति मे विषाद-रस ने विशेष स्थान अधिकृत किया है। ससार-साहित्य के इतिहास मे इस रस की प्रधानता पाई जाती है। विषाद-रस अलकारशास्त्र के करुण-रस से अभिव्यक्त नही हुआ है, बल्कि करुणरस ही इस महारस का एक अग है। जब कवि ससार के प्रतिदिन के सुख-दुःख का, तथा महत्त्वाकाक्षाओ की पूर्ति मे मनुष्य को पग-पग पर प्राप्त होनेवाली बाधाओ का चित्र अकित करने बैठता है, तब उस चित्राकन से जो रस उद्वेलित होता है, वही विषाद-रस है। विषाद का भाव मनुष्य की अतःप्रकृति मे निहित है। इसलिए कवि आनद का भाव प्रस्फुटित करने की लाख चेष्टा करता है, पर 'कहँ चद्रिका ,चद्र तजि जाई ?' विषाद छाया की तरह उस भाव की आड़ में चला चलता है; कवि को मालूम भी नही होने पाता कि यह चिर-रहस्य-मय सहचर कब और कहाँ से रवाना हुआ था।

साहित्य-रचना के आदिम युग से कविगण विषाद का भाव चित्रित करते आये हैं। होमर के महाकाव्यों मे तथा सोफोक्लीज़ और यूरिपिडीज प्रमुख ग्रीक लेखको की ट्रेजेडियो मे विषाद का भाव कूट-कूट कर भरा है। हमारे यहाँ रामायण की सारी कथा मे विषाद का ही प्राधान्य है। राम का भाई तथा स्त्री के साथ वन-वास, सीता--हरण, लंका का युद्ध, पुत्र के निर्वासन के कारण दशरथ की मृत्यु, माताओं का कठिन दुःख, भ्रातृ-

स्नेह के कारण भरत का कठिन 'असिधार-व्रत', आदि सभी घटनाएँ कितनी दुःखमूलक हैं, यह बात बतलाने की आवश्यकता नही। इन कठिन दुःखों का अत होने भी न पाया था कि सीता वनवास का विकराल दुःख, उग्र रूप लेकर सामने आ उपस्थित हुआ। सीता-विसर्जन से अधिक करुणोत्पादक घटना की अवतारणा ससार साहित्य के अन्य किसी भी ग्रथ मे शायद नहीं हुई। इस महाकठिन दुःख की समस्या का कोई समाधान ही नही हो सकता। महाभारत के भीषण युद्ध को सुखमूलक कौन बतला सकता है ? इस युद्ध से असख्य लोगो का विनाश-साधन हुआ, जिनमे कई ऐसे प्रतिभाशाली पुरुष थे जो अधिक दिन जीते तो ससार के कल्याण-साधन मे विशेष सहायक होते। इस 'धर्मयुद्ध' का फल यह हुआ कि राज्य प्राप्त होने पर पाडव युद्ध की भीषणता देखकर ससार से ही विरक्त होने का विचार करके मौन भाव से महाप्रस्थान के दिन की अपेक्षा करने लगे। इस घोर युद्ध के कारण समस्त राज्य की आब-हवा मे विषाद का भाव किस प्रकार व्याप्त हो जाता है, इसका उल्लेख महाभारत मे विस्तार-पूर्वक किया गया है। आत्मतत्त्व का माहात्म्य जब कृष्ण के चिर-सहचर पाडवो के हृदय मे ही दृढता उत्पन्न न कर सका, तो औरो के सबध मे कहना ही क्या है ! युधिष्ठिर के हृदय मे युद्ध ने कैसी विभीषिका उत्पन्न कर दी थी, इस बात को महाभारतकार ने बडी खूबी से समझाया है। अन्य पाडवों का भी यही हाल था। कुन्ती, गाधारी, धृतराष्ट्र, विदुर आदि विज्ञ और धीर स्त्री-पुरुषों की मानसिक अवस्था भी अत्यंत शोचनीय हो जाती है। विधवाओं तथा पुत्रहीन माताओं का हृदय-विदारक क्रन्दन हम जैसे

अपने अंतःकरण के कानो से सुनते हैं। तात्पर्य यह कि सर्वत्र हाहाकार सुनाई पड़ता है तथा विषाद की ही छाया दिखलाई देती है। महाभारत मे निष्काम कर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है, और पाडवों ने भी उसका माहात्म्य स्वीकार किया है। पर उन्हे उस धर्म को निभाने मे जिन घोर दुखों का सामना करना पड़ा है, उन्ही से इस महाकाव्य मे विषाद-रस प्रस्फुटित हुआ है।

यूरोप के अर्वाचीन साहित्य मे विषाद की रेखा प्रगाढ रूप से अंकित है। शेक्सपीयर, ग्येटे, शिलर आदि नाटककारो तथा कवियों की रचनाओं मे विषाद-रस कूट-कूटकर भरा हुआ पाया जाता है। शेक्सपीयर के 'हैमलेट' मे यह रस पराकाष्ठा को पहुॅचा दिया गया है। ग्येटे के 'वेर्टेर' तथा 'फौस्ट' मे मानव-जीवन की असफलता, मनुष्य-चरित्र की दुर्बलता, स्वार्थ-मग्न ससार की सकीर्ण-हृदयता आदि और भी कई निराशाजनक कारणों के अस्तित्व से जीवन की व्यर्थता का चित्र प्रतिफलित हुआ है। बायरन की निराशावादिता के कारण बायरनिज्म का मत चल गया था। इटली मे लिओपार्दी फ्रास मे हूगो, लामार्तीन आदि, और रूस मे पुश्किन प्रमुख कवियो की रचनाओ मे विषाद ही केंद्रगत भाव है। आधुनिक यूरोपियन साहित्य मे शायद ही कोई श्रेष्ठ लेखक ऐसा देखने मे आवे, जिसकी रचना विषाद के भाव से सश्लिष्ट न हो। शेली का जीवन जिस प्रकार सकटाकुल था, उसकी कविता मे भी उसी प्रकार दुःख की प्रगाढ छाया पड़ी है। 'Spiit of Delight' (आनदमयी आत्मा) की खोज मे वह व्यस्त है, पर 'West Wind' की wild spirit (उच्छृंखल छायात्मा) तथा

'Spirit of Night' (रात्रि की छायात्मा) के प्रगाढ अधकारमय, सर्व-संहारक होने पर भी उनके नवजीवन और उज्ज्वलता के सूचक रूप पर वह जी-जान से मुग्ध है। और तो क्या, वड्‌सवर्थ तथा टेनीसन के समान शात प्रकृति के कवियो की कविता तक मे विषाद का मृदु भाव पाया जाता है। लूसी नाम की एक अज्ञात, छोटी और प्यारी-सी लड़की के कर्म-निरत, सेवापरायण, निरानद तथापि शात, सयत तथा निर्विकार जीवन की करुण गाथा के वर्णन मे वड्‌सवर्थ की कविता का मूल-भाव केंद्रीभूत होता है। टेनीसन की कविता उसके 'Lotos Eaters' ('कमल'-भक्षक) की 'Mildminded Melancholy (क्लात मन के मद मधुर विषाद) से सर्वत्र आच्छन्न हुई है। इन दो कवियों के विषाद-भाव मे तथा गोल्डस्मिथ के 'Deserted Village' (ऊजड़ गाँव) और 'Vicar of Wakefield' (वेकफील्ड का पादडी) के मूल रस में हैमलेट का तीव्र विद्रोह नही झलकता, इसमे सदेह नही, पर इन कवियों की कल्पना में अनत के कठिन सनातन नियम (Eternal law) के पदप्रात पर विरहिणी मुग्धा नायिका की सहनशीलता के साथ आत्म-समर्पण करने का भाव प्रस्फुटित होता है। ईसा का मतवाद दुःख के प्रति यही भाव पोषित करने का उपदेश देता है। इस मत मे दुःख को धर्म का एक आवश्यक अग बतलाया गया है। ईसा की "Blessed are they that mourn, for they shall be comforted", (शोक करने वाले धन्य हैं, क्योंकि उन्हें सात्वना मिलेगी) इस उक्ति मे यही भाव झलकता है। इसलिए यूरोप में कई श्रेष्ठ साहित्यिकों तथा शिल्पियों ने यह भाव अपनाया है। प्रसिद्ध फ्रासीसी चित्रकार मिले ने जब किसानों

तथा मज़दूरों के जीवन के मधुर चित्र अकित किये, तो देश मे विषाद-रस का अपूर्व प्लावन हो गया। टाल्सटाय ने अन्य कई प्रसिद्ध चित्र-कारों तथा कलाकोविदों की तीव्र निन्दा करते हुए मिले के सबध मे लिखा था कि विषाद का विशुद्ध तथा पवित्र भाव दरसाने के कारण उसके चित्र ईसाई धर्म के अनुकूल हैं। रूसो, उसके भक्त टाल्सटाय, तथा इन दोनों के भक्त रोमाँ रोलाँ—इन तीनों मनीषियों ने ईसा के आडंबरहीन, सच्चे अनुयायी होने के कारण, अपने हृदय मे स्थित विषाद के भाव को गर्व के साथ अपनाकर उन्हे महिमान्वित किया है।

कालिदास के मेघदूत मे चिर-विरहज विषाद का ही सकरुण, पर मधुर तथा आनंदमय गीत गाया गया है। 'कुमार-संभव' मे पार्वती की कठिन तपस्या मे, विशुद्ध तथा स्थायी प्रेम के लिए आवश्यक कठिन त्याग तथा दुःख की चिरकालिक महिमा का ही प्रतिरूप झलकता है। 'अभिज्ञान शाकुंतल' यद्यपि सुखात नाटक है, पर उसे पढने पर, अत में दुष्यंत तथा शकुंतला का मिलन सघटित होने पर भी, हृदय मे दुःखिनी शकुंतला का नियम-क्षाम मुख की ही छाया पड़ी हुई रहती है। 'उत्तररामचरित' मे भी राम-सीता के अतिम मिलन के कारण, हृदय में प्रतिध्वनित निर्वासिता सीता का 'विग्ना कुररीव' दीर्घ क्रदन किसी तरह थमना नही चाहता।

ऐसा क्यो होता है? मनुष्य को आनद के विशुद्ध भाव से विरह-मिश्रित आनद क्यो इतना सुखकर प्रतीत होता है? कोरे सुख के हास्य से स्नेह-गलित आनंदाश्रु क्यों प्रिय मालूम देते हैं? नवीना किशोरी की प्रेम-जनित चंचलता से परिणित-यौवना रमणी के मातृ-

हृदय से विकसित गाभीर्य क्यों मधुरतर जान पड़ता है? मनुष्य की यह विषाद-ग्राहिणी प्रवृत्ति अत्यत रहस्यमय है। वसंत के उज्ज्वल प्रभात से शरत्काल की प्रशात सध्या हृदय मे अधिक उत्सुकता उत्पन्न करती है। नदी के चचल कल-हास्य से समुद्र का विकराल गाभीर्य कवियो को अधिक मोहित करता है। उद्यान की रमणीयता से अरण्य की मर्मरध्वनि चित्त को अधिक आदोलित करती है। हमने किसी एक लेख मे कहा था कि रवीन्द्रनाथ को छाया के भाव ने अधिक मोहित किया है। व्यक्त के पीछे वह सदा अव्यक्त की छाया के सधान मे रहे हैं। उज्ज्वलता के दृश्य से उनके हृदय में अधकार की छाया घनीभूत हुई है। विषाद के गाभीर्य का उन्होंने गौरव के साथ वर्णन किया है। अपनी एक कविता मे वह स्वय लिखते हैं—"यदि आज मेरी प्रिया जीवित होती, तो उसे मै अपने हृदय में स्थित विषाद की वृहत् छाया तथा सुगभीर विरह को व्यक्त करके दिखलाता।" इसी वात को उन्होंने फिर से समझाया है—"जिस प्रकार दिन का अवसान होने पर रात्रि के अधकार-निलय मे विश्व अपने ग्रह-तारकाओं को लेकर प्रकट होता है, उसी प्रकार हास-परिहास से मुक्त इस मेरे हृदय मे वह अतहीन जगत् का विस्तार देखती।" आत्मा की विपुलता अधकार की विजनता मे ही प्रकट होती है। उज्ज्वलता में चाचल्य का भाव वर्तमान रहता है और अंधकार मे एक प्रकार का स्थायित्व है। इसी कारण अधकार की स्तब्धता कवियों को इतनी प्रिय है। सध्यातारा के स्तिमित प्रकाश में एक प्रकार का मधुर तथा स्थायी विषाद का भाव वर्तमान है। इसलिए कितने ही कवियों ने कितने ही प्रकार से इसके सौंदर्य का वर्णन किया है; पर फिर भी उन्हें तृप्ति नहीं

हुई। लूसी के संबध मे वर्ड्सवर्थ का—

Fair as a star when only one
Is shining in the sky.*

यह पद प्रसिद्ध हो गया है। रवीन्द्रनाथ ने भी संध्या-तारा का उल्लेख स्थान-स्थान पर किया है। "सध्यार लक्ष्मीर मत सध्यातारा करे" आदि पद अत्यत सुदर जान पड़ते हैं। किसी नायिका के प्रति स्थायी प्रेम का उल्लेख करने के समय कविगण छायामय अधकार का भाव ही अधिक परिमाण मे देख पाते हैं। वायरन ने अपने स्थिर प्रेम की भावना के लिए भी अधकार के भाव की आवश्यकता समझी है। अपनी एक प्रिया के सबध में वह लिखता है—"प्रकाश तथा अधकार में जो कुछ भी सौदर्य भरा है, वह मिलकर उसमे एकाकार हो गया है।" दुष्यत का चचल प्रेम जब सुदीर्घ विरह के कठिन दुःख से स्थिरता प्राप्त करता है, तब मृगनयनी शकुतला के चंचल कटाक्ष तथा भ्रू-विलास के हास्य-रस से उसका 'नियम-क्षाम-मुख' ही उन्हे अधिक आनदकर प्रतीत होता है। शकुंतला अब नवीना प्रेमिका नही रह गयी है, उसके व्यथित हृदय से अब जननी-सुलभ वात्सल्य-रस स्निग्ध भाव से टपका पड़ता है। इसलिए उसका नियम-क्लिष्ट, स्निग्ध-रस-मंडित मुखमडल उनके हृदय मे प्रगाढ विषाद की सुदीर्घ छाया घनीभूत करके उनको विमुग्ध कर देता है। छाया के अंधकार मे यह जो स्थायित्व का भाव छिपा हुआ है, उसकी मोहिनी अपूर्व रहस्यमय है।

---

*"सांध्य आकाश में टिमटिमाने वाले एक मात्र तारे के समान सुंदर।"

गीति-कविता मे जिस कारण से विषाद की छाया वर्तमान है, नाटको तथा उपन्यासों में वह कारण हम नही पाते। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' मे विषाद का मूल कारण दुष्यत तथा शकुतला की चरित्रगत दुर्बलता है। इन दोनों के बीच गाधर्व-विवाह का जो सबध स्थापित हुआ था, उसका कारण प्रेम की निगूढ वेदना नहीं, वासना की चचलता थी। यही सबब था कि दुष्यत शकुतला को गर्भाधान-संस्कार के बाद कठिन विरह-दु:ख मे अकेली छोडकर चल दिये। लोकलज्जा के विचार से ही उन्होंने बाद को उसके पास रहना उचित नहीं समझा। दुर्वासा के शाप ने इसके पश्चात् उन्हें मतिभ्रष्ट किया था। शकुतला का प्रेम भी आरभ मे अतस्तल की वेदना से उत्थित प्रेम नही था। वह प्रथम यौवन की विलोल हिल्लोल-वासना के मद के कारण, प्रथम वरणीय पुरुष के दर्शन से मुग्ध, नवीना युवती की विभ्रात विह्वलता थी। यही विह्वलता उसके सुदीर्घ दुःख का कारण हुई, और इसी से उसे प्रेम का महत्त्व समझने मे सहायता भी मिली। महत्ता तथा विपुलता की अनुभूति के लिए जब मनुष्य जीवन के सुदुर्गम पथ पर अग्रसर हो जाता है, तब उसे अपनी अतर्गत दुर्बलता के कारण अनेक बाधा-विघ्नों का सामना करना पड़ता है। इन बाधाओं के कारण ही विषाद का भाव उत्पन्न होता है। इस भाव को ग्येटे ने 'फौस्ट' मे बड़ी खूबी के साथ समझाया है। फौस्ट अपनी जटिल तथा दुर्बोध प्रकृति के चक्र से स्वय चक्कर मे आता है, और उस जटिलता का विश्लेषण करते हुए कहता है—"हाय! मेरे अभ्यन्तर मे दो आत्माएँ पर्यवसित हैं, जिनमे से प्रत्येक दूसरी को हटाने की चेष्टा मे निरत रहती है। एक तो मद-विह्वल होकर ससार को भोग

की इच्छा से इद्रियो द्वारा अत्यंत प्रबल रूप से जकड़े रहना चाहती है, और दूसरी भोग की इस धूल को झाड़कर अनत के साथ मिलित होने की आकाक्षा करती है।" द्विविध प्रकृति (Double natuıe) का यह भाव कुछ न कुछ अश मे प्रत्येक व्यक्ति मे पाया जाता है, पर प्रतिभाशाली तथा विवेचक व्यक्तियों मे दो परस्पर-विरोधी प्रकृतियो की धाराएँ अत्यन्त स्पष्ट रूप से अलग-अलग बहती हुई दिखलाई देती हैं। यही कारण है कि प्रतिभाशाली तथा विवेचक स्त्री-पुरुष ससार मे सबसे अधिक दुखी होते हैं। एक तरफ़ उनके चरित्र की दुर्बलता उनको पार्थिव सुख के लिये उत्तेजित करती है, और दूसरी ओर उनकी प्रकृति की महत्ता अनंत के साथ सयोग के लिए व्याकुल करती है। इन द्विविध भावो के सघर्षण से दुःख की ज्वाला भभक उठती है। प्रतिभाशाली व्यक्तियो मे इन परस्पर-विरोधी भावों की प्रबलता क्यो पाई जाती है, इस समस्या का समाधान पाश्चात्य आचार्यों ने मनोविज्ञान के आधार पर करने की चेष्टा की है। उनका कहना है कि भाव तथा शक्ति विशेष के विशद अनुशीलन (cultıvatıon) से मनुष्य के भीतर निहित समस्त शक्तियाँ एकीभूत होकर उसी भाव अथवा शक्ति के उत्कर्ष मे सहायता पहुँचाती हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि अन्य वृत्तियाँ दुर्बल पड़ जाती हैं, यहाँ तक कि साधारण मनुष्य से भी कई बातो मे प्रतिभाशाली व्यक्ति गिरा हुआ होता है। पर एक विशेष भाव अथवा शक्ति के उत्कर्ष के कारण उसकी महत्ता प्रतिपादित हो जाती है। अन्य वृत्तियो के दुर्बल पड़ने से उसे जीवन-पर्यंत कठिन दुःख उठाना पड़ता है। यह कारण यद्यपि

असगत नही, तथापि मानव-चरित्र इतना रहस्यमय है कि उसकी गति को कुछ विशेष वैज्ञानिक नियमो से निरूपित कर देना अनुचित जान पडता है। राम-जैसे तीव्र प्रतिभा-सपन्न व्यक्ति के संबध मे यह कोई नही कह सकता कि उनकी सभी वृत्तियाँ यथोचित रूप से उत्कर्ष को प्राप्त नही हुई थी। तब सीता-त्याग के सबध मे उनकी दुर्बलता का क्या कारण दिया जा सकता है? यह दुर्बलता इतनी रहस्यमय है कि उसे दुर्बलता कहे या उनकी तेजस्विता कहे कुछ भी ठीक समझ मे नही आता। फिर भी यह बात माननी पडती है कि अधिकाश प्रतिभाशाली स्त्री-पुरुषो की चरित्रगत दुर्बलता उनके आभ्यतरिक असामञ्जस्य के कारण ही प्रकट होती है। युधिष्ठिर परम धर्म-भीरु होने पर भी जुए मे अपनी स्त्री तक को हार जाते हैं। कोई साधारण व्यक्ति भी अधःपात की इस सीमा तक नही पहुँच सकता। पर अतःप्रकृति का असामजस्य एक तरफ उनको धर्म के शिखर पर पहुँचने के लिए प्रेरित करता है, और दूसरी तरफ अत्यत दीन बना देता है। इस असामजस्य का कारण मनुष्य के अन्तस्तल के भीतर स्थित किसी रहस्यमय निगूढ विकार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? ग्येटे ने फौस्ट मे इस गहन मानसिक विकार पर सूक्ष्म रूप से विचार किया है। महाभारत मे इस प्रकार के कितने ही विकारग्रस्त प्रतिभाशाली स्त्री-पुरुषो का उल्लेख पाया जाता है। यूरोप के प्राचीन तथा अर्वाचीन साहित्य मे ऐसे कितने ही चरित्र अकित हुए हैं। पाश्चात्य साहित्य मे श्रेष्ठ 'ट्रेजोडियो' के नायक इसी प्रकार के द्विविध व्यक्तित्व-सपन्न जीव हैं। हैमलेट और ओथेलो मे यह प्रकृति पूर्ण मात्रा मे पाई जाती है। हैमलेट मे हम

चित्तोत्कर्ष को चरमावस्था में पहुँचा हुआ पाते हैं। पर ससार की कठोर वास्तविकता पर विजय पानेवाली शक्ति उसमे नाम को भी न होने के कारण सशय, भ्रम तथा द्विविधा ने उसे अकर्मण्य बना दिया। उसकी द्विविधा-जनित अकर्मण्यता के कारण ही उसका तथा उसके साथ और भी कई लोगो का विनाश हुआ। ओथेलो मे साहस तथा शौर्य की मात्रा हद तक पहुँच गई थी, पर उसमे हम चित्तोत्कर्ष कुछ भी नही पाते। इसी कारण उसने द्विविधाहीन होकर अपनी पत्नी की हत्या कर डाली, और अत को आत्मघात करके ही शात हुआ। हैमलेट से हम स्त्री-हत्या की आशा कदापि नही कर सकते। तात्पर्य यह कि दोनो की साधना की गति पृथक्-पृथक् है, और दोनों ने एक-एक विशेष वृत्ति के विकास को अपने चरित्र मे हद तक पहुँचा दिया है। पर अन्य वृत्तियो मे दोनों हीन हैं। ससार-चक्र मे किसी भी महान् व्यक्ति के जीवन की 'ट्रेजेडी' (शोकप्रद अत) पर लक्ष्य कीजिये, उसका मूल कारण अंतःप्रकृति का यही असामजस्य अथवा वैषम्य होगा। यूरोप के दुःखात-नाटक-साहित्य का जन्म इसी असामजस्य की अनुभूति से हुआ है।

पर इस अतल, अथाह दुःख-सागर से त्राण पाने का कोइ उपाय पाश्चात्य कवियो ने निर्देशित नही किया। दुःख का चित्र खीच कर ही उन्होंने अपना कर्त्तव्य पूरा हुआ समझा है। पर हमारे साहित्य मे यह बात नही है। दुःख क्या प्राच्य क्या पाश्चात्य, सभी देशों के लोगों मे समभाव से वर्तमान है, किंतु हमारे कवियों ने उसे सहनशीलता के साथ ग्रहण किया है, और उसकी सार्थकता कहाँ पर है, इस बात पर विचार किया है। शकुतला के चरित्र मे कवि ने

दिखलाया है कि मानव-चरित्र की दुर्वलता से उत्पन्न प्रेम की चचलता का परिणाम दुःखप्रद ही होता है। यह दुःख अवश्यभावी है, पर इसकी सार्थकता भी है। वह है चचलता को कठिन त्याग तथा मातृत्व के स्नेहाश्रु द्वारा स्थायित्व प्रदान करके मगलमय प्रेम मे परिणत करना। यह भाव किसी नैतिक शासन से नही, वरन् दुःख की आतरिक ज्वाला से निखरकर भीतर से ही विकसित होता है। इस प्राच्य भाव को कुछ पाश्चात्य कवियो ने भी पूर्ण रूप मे, बडी सुदरता के साथ, अपनाया है। शेक्सपीयर ने ईसाई धर्म के मूल-प्राण की अवहेलना की है, अन्यथा वह भी दुःख को शात रूप से ग्रहण करता।

ईसाई धर्म मे दुःख की सार्थकता बतलाई गई है। शोकप्रकाश करनेवालो को सात्वना दी जायगी, इसलिए दुःख निरर्थक नहीं है। दुःख से सात्वना मिलेगी, जिसमे अनत का रहस्य समझने मे सहायता प्राप्त होगी। शेली का—

The devotion to something afar,
From the sphere of our sorrow.*

भी यही भाव व्यक्त करता है। शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों मे निरर्थक दुःख का ताडव-नृत्य दिखलाया गया है। उसमें पाप की विभीषिका, आत्म-विद्रोह की प्रचडता तथा निरर्थक हत्याकाड की उग्रता के चित्र कवि के हृदयस्थित शोक के रग से रजित हुए हैं। पर वह शोक किसी

*विषाद के वातावरण से ऊपर उठकर किसी दूरस्थित (विश्वकल्याण-मय) भाव मे मग्न हो जाना।

परिणाम को नहीं पहुँचता। शेक्सपीयर के नाटकों के नायक छिन्न मेघ की तरह दुःख के महाकाश मे भटकते फिरते हैं, पर महत् कल्याण की स्थिर शाति को प्राप्त करने का कोई मार्ग वे नही ढूँढ पाते। तथापि इस प्रकार का दुःख अत्यत उत्कट तथा तीव्र होता है। इसकी कोई सार्थकता न होने पर भी अनत के तट पर यह अपना चिह्न अकित कर ही देता है।

हम पहले ही कह चुके हैं कि अधकार की माया के भीतर एक प्रकार के स्थायित्व का भाव पाया जाता है। रात-दिन के सुख-दुःख की चचलता को स्थायित्व के सूत्र मे ग्रथित करना ही विषाद-विशिष्ट साहित्य का उद्देश्य है। क्या कालिदास के सुखात नाटकों मे और क्या शेक्सपीयर की ट्रेजेडियों मे इसी एकमात्र उद्देश्य की पूर्ति के लिये विषाद-रस का सन्निवेश पाया जाता है। 'उद्देश्य की पूर्ति' से हमारा मतलब यह नही है कि कवि लोग किसी विशेष उद्देश्य को लेकर ही विषाद-रस की अवतारणा करते हैं। हमारे कहने का तात्पर्य यही है कि विषाद का भाव अस्थिरता को स्थिरता से, चचलता को गाभीर्य से तथा अस्थायी को स्थायित्व से मडित कर देता है।

काव्य में विरह

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का, और विरह जीवन है,
विरह प्रेम की जागृति गति है, और सुषुप्ति मिलन है।

—'प्रसाद'

कोई भी सृष्टि अन्तस्तल की निगूढ वेदना का प्रकाशन मात्र है। हमारी यह व्यक्त प्रकृति उस अव्यक्त की विरह-भावना का प्रतीक है। सम्भवतः आदि पुरुष ने अपने एकत्व से ऊब कर ही इस द्वैतात्मक सृष्टि की रचना की, क्योंकि अकेलेपन मे वह सुख नहीं, जो दो के साथ होने पर होता है। आत्म-प्रकाश का आधार व्यक्ति स्वय नहीं होता, उसके लिए किसी दूसरे की आवश्यकता होती है। यदि ऐसा न होता, तो कला-सृष्टि की सामूहिक आवश्यकता ही नष्ट हो जाती। फिर तो प्रत्येक कलाकार अपनी कला को बालकों के मिट्टी के घरोदों-जैसा बनाया-बिगाडा करता है। आशय यह कि किसी सृष्टि की सार्थकता द्वैत की ही उपस्थिति मे सम्भव है।

कवि भी तो सृष्टा है। वह नाना प्रकार से अपनी इसी विरह-भावना को अपने काव्य मे व्यक्त करता आया है। काव्य का मूल भाव यही है, वाह्य रूप से तो यह एक दुःख का भाव है, परन्तु इस भावना से अधिक आनन्द भी मिलना कहीं सम्भव नही है। अगरेज़ी कवि शेली ने शायद इसीलिए कहा था—Our sweetest songs are those that tell of saddest thought. हमारे मधुरतम गीत वे हैं,

जो हमारे भीतर करुणतम भावो का सचार करते हैं। इसका एक बहुत ही रहस्यपूर्ण महत्त्व है। सुख किसी अपेक्षित वस्तु की प्राप्ति से होता है, और दुःख उसकी अप्राप्ति से। इस प्रकार हम साधारण रूप से यह भी कह सकते हैं कि संयोग सुख तथा वियोग दुःख है। यह नियम जीवन की किसी वस्तु पर किसी क्षेत्र मे भी लागू होता है। इसकी तीव्रता वस्तु की प्रियता के अनुसार घट-बढ सकती है। किसी भी वस्तु का अभाव दुःखद होता है· किन्तु यही अभाव प्रियतमोन्मुख होकर विरह का रूप धारण करता है। हमारा आशय विरह से यही है। हमारी अभाव की वृत्ति जब परिष्कृत होकर एकनिष्ठ हो जाती है, तब हम प्रेमी के पद पर आसीन होते हैं, और विरह प्रेमी को ही अनुभव होता है, क्योंकि जाड़े के दिनो मे आग का अभाव दुःखदायी हो सकता है, किन्तु वह विरह नही है। विरह का दुःख तो आदमी के लिए ऐसी ही ज्वाला है, जैसी चकोर के लिए आग। सम्भवतः ऐसे ही दुःख के लिए कहा गया है—"दुःख मेरे निकट जीवन का ऐसा काव्य है, जो सारे संसार को एक सूत्र मे बाँध रखने की क्षमता रखता है।" क्यो नही—"मधुर मुझको हो गये सब मधुर प्रिय की भावना ले।"

इस विरह-भावना की दो धाराएँ यूरोप तथा भारत के महाकाव्यो मे प्रवाहित होती आयी हैं। यूरोप मे इलियड, ओडीसी तथा भारत मे रामायण, महाभारत ऐसे ही महाकाव्य हैं। साधारणतः महाकाव्यों मे विजय, और संहार—दो शक्तियो का घात-प्रतिघात ही रहता है। रामायण को ही ले लीजिये, उसकी महत्ता राम-रावण युद्ध मे उतनी नही है, जितनी राम-सीता के मिलन-विरह के निदर्शन मे है। वाल्मीकि रामायण

मे और तुलसीदास की रामायण मे राम-सीता के दाम्पत्य प्रेम के वर्णन जहाँ आए हैं, वे स्थल अद्वितीय हैं।

मर्यादा की मान्यता का सच्चा उपासक कवि राम के विरह मे कितना करुण हो पड़ता है, इसकी विशेषता एक सन्देश के रूप मे और भी बढ जाती है। हनुमान जी सीता से इस प्रकार कहते हैं :

राम वियोग कहा सुनु सीता, मो कहँ सकल भयो विपरीता।
नूतन किसलय मनहु कृसानू, काल निसा सम निसि ससि भानू॥
कुवलय विपिन कुन्तवन सरिसा, वारिद तप्त तेल जनु वरिसा।
जेहि तरु रहौ करत सोइ पीरा, उरग स्वास सम त्रिविध समीरा॥

विरह की यह शारीरिक वेदना है, किन्तु राम केवल एक पक्ष की व्यथा की कथा कह कर शान्त नही होते, विरह का मानसिक पक्ष भी प्रकाश मे लाते हैं :

कहे ते कछु दुख घट नहि होई, काहि कहो यह जान न कोई।
तत्त्व प्रेमकर मम अरु तोरा, जानत प्रिया एक मन मोरा।
सो मन सदा रहत तोहि पाही, जानु प्रीति रस इतनेहि माही।

इन चौपाइयो से पता चलता है कि कवि के हृदय मे विरह की कितनी तीव्र अनुभूति थी। रावण-विजय के बाद सीता का पुनः विच्छेद इस बात को और भी चरितार्थ कर देता है। अस्तु, रामायण का सारा विस्तार जाकर विरह-भावना मे लीन हो जाता है, सीमातीत होकर असीम के छोर छूता है।

महाभारत के सारे युद्ध के बीच मे इसी भावना का आधार है। जो व्यक्ति सर्वथा एकाकी है, उसके लिए कोई भी कार्य भला या बुरा

नही है, क्योंकि आत्मा और अनात्मा के सारे कार्यों की उत्पत्ति होती है— इसी द्वैत की साधना तथा विरह की आराधना मे। अन्त मे विजयी पाण्डव अपने को हिमालय की हिमानी-गोद मे विसर्जित कर देते हैं। महाभारत के कठोर कर्म-काण्ड मे विरह-जनित वैराग्य ही प्रधान है, इसमें सन्देह नहीं। यह काव्य वैभव तथा सौन्दर्य-भोग मे ही समाप्त होकर उतना महत्त्व न पाता, जितना विरह के इस विश्राम से पाया है। इस काव्य के सारे कर्मों का अन्त वही पाण्डवो का महाप्रस्थान है।

कालिदास ने भी दुष्यन्त और शकुन्तला के मिलन-विरह की गाथा द्वारा इसी सनातन विरह-भावना की स्थापना की है। दुष्यन्त के शाप की बात तो कवि के विरह तत्त्व की मान्यता का मूल मात्र है। वास्तव मे इन्द्रियो की प्रकृति से परे होकर भावो मे विचरण करने वाले प्रेम की चरम परिणति भी विरह मे ही होती है। यदि मिलन आत्मा का कल्याण या बन्धन है, तो विरह उसका बन्धन-मोचन, मिलन व्यक्ति की नितान्त एकान्तिक सुख-साधना का सम्बल है, तो विरह व्याप्ति की दृष्टि से विश्व का आश्रय। विरह त्याग से पूर्ण, स्नेह से स्निग्ध और दुख से करुण होता है, मिलन मोह से अपूर्ण, स्नेह से शिथिल तथा सुख से सालस होता है। ऐसा होना भी बहुत स्वाभाविक है, क्योंकि सयोग की उन्मत्तता का आकर्षक उन्मेष क्षण भर ही को होता है; किन्तु विरह-व्याकुलता की दीप्ति तो एक अमर ज्योति है।

मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत की पद्मावती के प्रेम मे भी इसी विरह-तत्त्व की प्रधानता है। सारी कथा रूपक के रूप मे जीवात्मा की परमात्मा को पाने की चेष्टा पर ही स्थित है। इसका उल्लेख कवि

ने स्वय किया है :

तन चित उर मन राजा कीन्हा,
हिय सिहल बुधि पदमिनि चीन्हा।
गुरू सुवा जेहि पन्थ देखावा,
बिन गुरु जगत को निर्गुण पावा।
नागमती यह दुनिया धन्धा,
बाँचा सोई न एहि चितबन्धा।
प्रेम कथा यहि भाँति विचारहु,
लेहु बूझि जो बूझै पारहु।

पद्मावत को पढने से पता चलता है कि कवि की प्रवृत्ति सूफियो-जैसी थी, क्योकि सूफियों के अनुसार ईश्वर की कल्पना तथा भावना बहुत ही सौन्दर्यमयी तथा माधुर्यमयी है। ससार की सभी वस्तुओं मे वे उस अव्यक्त की ही झाँकी पाते हैं, इसी कारण सभी के व्यवहारों मे वे एक कोमलता तथा भावुकता की रक्षा करते हैं, जो ईश्वर के प्रति उनके प्रेम तथा विरह की भावना का एक स्वरूप मात्र है। प्रत्येक वस्तु के एकरङ्गी होने का कारण यही चिर-विरह है, क्योंकि सौदर्य की सयोग-इच्छा तथा उसकी विरह-व्याकुलता से सभी आकुल हैं :

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा,
बेधि रहा सगरौ ससारा।

अस्तु, ससार की यह सारी क्रिया केवल अपने विरह को लेकर चलती है, सब अपने चिर-प्रियतम को पाने के लिए उत्सुक रहते हैं।

पानि उठा, उठि जाइ न छूआ,
बहुरा रोय, आइ मुँह चूआ।

कवि के नागमती का विरह-वर्णन सृष्टि में सवेदन-शक्ति की स्थापना का एक अनन्य उदाहरण है। विरह का भावुक चित्र जायसी के समान अन्य कवि कम कर सके हैं। उनकी पंक्ति-पंक्ति में जैसे विरह सप्राण हो उठा हो :

हाड़ भये सब किंगरी, नसें भई सब ताँति।
रोवँ रोवँ ते ध्वनि उठै, कहौ बिथा केहि भाँति॥

सारे काव्य में सयोग की अपेक्षा विरह को ही प्रधानता दी गई है, जो स्वाभाविक है। सूफी रहस्यवादियों में भी प्रेम की पीर, विरह का ही महत्त्व है। इस काव्य का अन्त भी विरह की स्थापना की घोषणा करता है।

कबीरदास भी इसी विरह-व्यथा की कथा कहते सुनाई पड़ते हैं। वे तो अपने सहज स्वरों में गूँज उठते हैं :

तुम बिन राम कवन सो कहिये,
लागी चोट बहुत दुख सहिये।
बेध्या जीव बिरह के भालै, राति-दिवस मेरे उर साले।
को जाने मेरे तन की पीरा, सतगुरु शब्द बहि गयो सरीरा।
तुमसे बैद न हमसे रोगी, उपजी बिथा कैसे जीवै वियोगी।

कबीर की उखड़ी भाषा में भी एक तारतम्य की तान भरने वाली उनकी यही विरह-भावना है। जहाँ प्रेम पूर्ण होकर, विरह की पीर से पुलकित होकर कबीर ने कुछ कहा है, वहीं वे कवि हो गये हैं, अन्यथा

वे एक चलते-फिरते फक्कड़ के सिवा कुछ नही थे। उनकी विरह की करुणा शब्दों मे जब उतर आयी है, तब शब्द सहज ही करुण तथा कोमल हो गये हैं .

सपने मे साईं मिले, सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता मति सपना हो जाय॥

कबीर का ऐसा ही काव्याश उन्हे कवि का स्थान देता है :

नैनो की कर कोठरी, पुतली पलॅग बिछाय।
पलको की चिक डारि कै, पिय को लिया लुभाय॥

उनका यह दोहा उनकी विरह-दशा का सन्धान मात्र है।

सूरदास के काव्य मे भी विरह-वर्णन ही अधिक उत्तम है। सूर-सागर मे भ्रमरगीत वाला अश काव्य की जिस उत्कृष्टता तक पहुँचता है, अन्य अश उतने मर्मस्पर्शी नहीं हैं। गोपियों की ओट मे कवि ने अपनी विरह-भावना का प्रकाशन जिस रूप से किया है, उससे उनकी मनोस्थिति भली भाँति जानी जा सकती है। कवि तो स्वय कृष्ण का विरही तथा प्रेमी था, वस्तुत. गोपियों की पीडा उसकी अपनी पीड़ा थी। सूर का सयोग-वर्णन तो कोरी कल्पना है, एक मानसिक विश्राम का अनुमोदन है, किन्तु विरह वास्तविक तथा चिरन्तन है :

बिछुरे श्री ब्रजराज आजु इन नैनन की परतीति गई।
उठि न गई हरि सङ्ग तबहि ते है न गई सखि श्याममई।
रूप रसिक लालची कहावत सो करनी कछु पै न भई।
साँचे क्रूर कुटिल ये लोचन व्यथा मीन छवि छीन लई।

अब काहे जल सोचत मोचत समै गए ते सूल नई।
सूरदास याही ते जड़ भए इन पलकन मिलि दगा दई ॥

दशा-क्रम के अनुसार सूर का विरह-काव्य अपनी एक अलग सत्ता रखता है। विप्रलम्भ मे वात्सल्य का समावेश इस कवि की एकान्त प्रतिभा का सूचक है। कवि गोपिकाओ तथा उद्धव की वाणी मे स्वयं बोलता है, और माधुर्य भाव की उपासना से विरह की साधना का सोपान बनाना चाहता है—अपनी भावना के अनुसार। तभी तो वह उद्धव को हारा हुआ मान कर अपनी विजय प्राप्त करता है, क्योंकि उसे तो निर्गुण की नीरस निष्ठा पर स्वय विश्वास नही, वह तो चिर-मिलन-विरहमयी मोहन मूर्ति का उपासक है। यही कारण है कि गोपियों-द्वारा जिस मनोवैज्ञानिक विरह की अभिव्यक्ति कवि ने की है, उसका परिहार उद्धव के द्वारा यथोचित नही कराया।

मीराबाई ने तो जैसे विरह की गोद ही मे जन्म पाया हो। पार्थिव सभी सुखो की उपस्थिति मे भी अपने अन्तस्तल की विरह-भावना का साहसपूर्ण प्रकाशन मीरा ने अपने काव्य तथा जीवन दोनो से किया है। विरह की व्यापकता और सनातनता की सीमा इससे स्पष्ट हो जाती है। यद्यपि मीरा के कुछ पदो मे कही-कही निर्गुणवाद की झलक है, किन्तु वह तत्कालीन सन्त-परम्परा का प्रभाव है, अन्यथा वह कृष्ण की सौन्दर्य-सुषमा पर ही अनुरक्त थी। मीरा का प्रेम इतना पावन था कि वह उन्हे केवल एक उपासिका के रूप मे उपस्थित नही करता, वरन् वह उन्हे एक प्रणयिनी का सुन्दर स्वरूप देता है। उनके प्रायः सभी पद अपने प्रियतम के खोज-पथ के पाथेय हैं। सूफियों की प्रेम-पीर मीरा मे

आकर उन्हे दरद-दिवानी बना देती है, जो उनकी भावना की तीव्रता का द्योतक है। तभी न वह एक ओर इतनी साहसी हैं कि ससार तथा समाज की चिन्ता न करके लोक-मर्यादा का उलङ्घन कर जाती हैं और दूसरी ओर यह भी कहती हैं कि—"अँसुवन जल सींचि-सीचि प्रेम-बेलि बोई।" अपनी विरह-कातरता मे प्रेम की भावना सँजोए रखने का इससे बढकर शायद कोई साधन भी नही है। मीरा का सारा काव्य उनकी विरहोत्कण्ठा का करुण-सजल चित्र है, जो अपनी स्वाभाविक सहज प्रवृत्ति के ही कारण सार्थक और सुफल है। यद्यपि प्रेम, विरह की भिन्न स्थितियो मे सन्तरण करता हुआ कभी-कभी सयोग की सीमा भी छू लेता है, तथापि वह केवल विरह का आवेग बढाने के लिए—यथा :

सोवत ही पलका मे मै तो पलक लगी पल मे पीव आए।
मै जो उठी प्रभु आदर देण कूँ, जाग परी पीव ढूँढ न पाए।
और सखी पिव सोइ गमाए, मै जु सखी पिव जागि गमाए।

सयोग केवल अपनी शुद्ध तथा प्रत्यक्ष स्थिति मे ही क्षणिक नही, मानसिक स्थिति मे भी वह आवश्यकता से अधिक अस्थायी है। इसी भाव का इस उपर्युक्त पद मे सकेत है। प्रेम और करुणा देवियों की सदैव से अपनी निजी सम्पत्ति रही है, किन्तु मीरा ने करुणा तथा प्रेम को अपने रङ्ग से इस प्रकार रँग दिया है कि मीरा और करुणा मे कोई अन्तर नही रह गया। विरह-वेदना की चलती-फिरती मूर्ति काव्य मे मीरा ही हैं। मीरा मे पहुँच कर कविता और वाणी ने एक रूप धारण कर लिया है। मीरा का काव्य भाव और भाषा का सङ्गम है।

विरह की महत्ता से ही दुनिया सम्भवतः यह मानने लगी है कि

सुख की अपेक्षा दुःख का प्रभाव अधिक उर्वर तथा स्थायी होता है। श्री रवीन्द्र के शब्दों मे :

"आमार माझारे जे आछे से गो कोन विरहिणी नारी ?"

कवि के भीतर किसी विरहिणी नारी का तड़पता हुआ हृदय होता है, जो अपनी उपस्थिति व्यक्त करता रहता है। फिर किसी नारी-हृदय से मिल कर ऐसा हृदय कितना करुण तथा वेदनाशील हो जावेगा, इसकी कल्पना सहज ही मे की जा सकती है। मीरा का विरह-वर्णन काव्य का विरह-वर्णन नही है, वह तो उसका स्मरण-मात्र है, इसीलिए वह किसी और की अपेक्षा नही रखता है। वह सहज ही सामने है, न किसी के ठेके पर और न किसी का उधार! यद्यपि मीरा की विरह-वेदना उतनी विस्तृत नही, जितनी व्यापक है, तथापि हिन्दी का कोई भी कवि उसके समकक्ष नही पहुँचता है। इसका एक कारण है। कवियो को अपनी भाव-प्रवणता के साथ समाज-ससार का भी ध्यान रहता है, वे हरि के हाथ बिकाते नही, किन्तु मीरा को ससार की ओर देखने की न तो आवश्यकता थी, और न उसे अवकाश ही था। प्रेमोत्सर्ग की वह एक ऐसी सुन्दर, पवित्र प्रतिमा है, जो साहित्य मे बहुत दिनों तक प्रतिष्ठापित रहेगी।

साहित्य का स्वरूप भी समय के अनुसार अपनी सनातनता की शक्ति के साथ परिवर्तित होता रहता है, किन्तु उसकी मूलगत भावनाएँ सदैव ज्यों की त्यो बनी रहती हैं। आज के काव्य मे भी विरह-भावना का प्राधान्य है और प्रायः प्रत्येक कवि अपनी इस भावना मे बरबस जागरूक-सा ज्ञात होता है। यह प्रवृत्ति छोड़ी भी तो नहीं जा सकती।

यह तो जन्मजात भावना है। वर्त्तमान काल के कवियो की चर्चा करने के पहले यह बता देना आवश्यक है कि हमने इस भावना का कोई ऐतिहासिक अन्वेषण नहीं किया, जो कवि हमारी भावपुष्टि के अधिक समीप पडा, उसे हमने ले लिया है। हाँ, रीतिकालीन कवियों को एकदम छोड़ने की धृष्टता अवश्य की गई है, उसका कारण यह है, कि उन लोगो ने सयोग-वियोग की भावनाओं को नायक-नायिका भेद मे इस प्रकार जकड़ दिया है, जैसे एक सुन्दर आत्मा को किसी कुरूप शरीर मे। उनकी भावनाओं का स्वरूप कुछ मलिन तथा सकुचित-सा पड़ गया है। तो भी विरह की प्रधानता ही इस काल की भी विशेषता है। देखिये—"विरहिणी की विरह-ज्वाला से चावल पक कर भात बन गया, और रुपया पिघल कर चाँदी बन गया।" जो हो, मुझे यह विरह-वेदना नाटक के विदूषक की वेदना-सी लगती है।

आज के कवियो मे भी काव्य के इसी मूल तत्त्व का आधिक्य है। भला जिस भावना से आदि कवि का कण्ठ भास्वर हुआ हो, उसे कौन कवि भुला सकता है! महादेवी जी ने तो यहाँ तक लिख दिया है :

विरह का जलजात जीवन विरह का जलजात!
वेदना मे जन्म करुणा मे मिला आवास,
अश्रु चुनता दिवस इसका, अश्रु गिनती रात!
जीवन विरह का जलजात!

जीवन में विरह की इस व्यापकता तथा इसके अस्तित्व के स्थायित्व को निश्चय मान कर देवी जी ने उसका स्वागत भी बड़े सुन्दर रूप से किया है :

विरह की घड़ियाँ हुईं अलि, मधुर मधु की यामिनी-सी ।
सजनि, अन्तर्हित हुआ है आज मे धुँधला विफल कल,
हो गया है मिलन एकाकार मेरे विरह से मिल !
आज है निःसीमता लघु प्राण की अनुगामिनी-सी !

कण-कण मे व्याप्त उस अव्यक्त के प्रति प्रेम-भावना-जन्य विरह को तो निश्चय ही इतना व्यापक होना चाहिए कि कवि अपनी विरह-दशा में भी अपने प्रियतम की अप्रत्यक्ष सत्ता का प्रतिपल अनुभव करता हुआ कह सके :

विरह का पल आज दीखा
मिलन के लघु पल सरीखा
सुख-दुख मे कौन तीखा
मै न जानी औ न सीखा

मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ले !

क्योंकि तीव्रता की चरम सीमा ही तो साधना की सिद्धि है । अस्तु, अपनी मानसिक स्थिति का भावावेश भी तो अपनी रुचि के अनुकूल बनाया ही जा सकता है । यद्यपि इससे विरह की चिरस्थिति मे कोई अन्तर नही पड़ता, जल की एकरूपता भिन्न रङ्गो के बोतलों में अपनी भिन्नता प्रदर्शन के साथ भी स्थिर रहती है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रायः काव्य के प्रमुख अशो मे इसी भावना की स्थापना हुई है और काव्य के मान्य चरित्रो का भी निर्माण इसी भावना की पुष्टि के लिए होता है । निर्वासिता सीता, उपेक्षिता शकुन्तला, परित्यक्ता पार्वती, विधुरा पद्मावती एव नागमती,

तिरस्कृता मीरा इसी भावना की साकार मूर्तियाँ हैं। इन सभी के हृदयों में विरह की धड़कन साफ सुनाई पड़ती है। आगे भी इस भावना का मानवता के साथ सदैव मेल रहेगा, चाहे कैसा ही समय आ जाये, साहित्य का कैसा ही स्वरूप बदल जाये, किन्तु यह भावना अपनी रहस्यमयता के साथ सदैव काव्य मे निहित रहेगी। मानवता का प्रत्येक पहलू इस भावना की आहों से आर्द्र रहेगा, यह निश्चय है क्योंकि काव्य का आधार यही है, कला का उत्थान इसीसे होता है।

अन्त मे हम यह कह देना चाहते हैं कि प्रेमी की यह पीर आनन्द-प्रद होती है। प्रेमी की यही पूर्ण अवस्था है। इस पीर के आँसुओं के भीतर आनन्द को लहरे छिपी रहती हैं, क्योकि विरह मे आनन्द का अभाव नहीं होता, वरन् एक मानसिक दुराव-सा पड़ जाता है। विरह मे मिलन की आशा, उत्साह और प्रयत्न सभी आनन्द-वर्द्धक होते हैं, जो प्रेम का पावन स्वरूप है। एक वाक्य मे इसे यों भी कहा जा सकता है कि विरह प्रेम-साधना का सुख है, जो सयोग से सम्भव नही। संयोग में सुख की ऊपरी सतह पर रहना पडता है, विरह मे सुख मे डूबकर। सयोग व्यक्ति को स्वार्थी तथा आत्मगत बनाता है, विरह उदार और सवेदनशील। जीवन की सयोग शाखा और विरह मूल है, तभी तो अनन्तव्यापी विरह-भावना की जागृति का नाम सत्-चित्-आनन्द है। आत्माधारी जीव-मात्र उस महा आत्मा से सदैव विरह का अनुभव करते हैं, यही भाव उनके समस्त कार्य-कलाप का आधार रूप है।
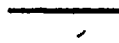
प्रसादजी की काव्य-धारा

हिन्दी काव्य-रस की जो रुद्ध धारा एक सकीर्ण आवर्त के भीतर आबद्ध होकर उसके चारो ओर घूर्णित होती रहती थी, और उस घोर अधकूप के बाहर निकलने का कोई पथ न पाकर अपनी दुर्गन्ध से अपने-आप भाराक्रात हो रही थी, प्रसादजी ने अपनी प्रबल प्रतिभा के प्रताप से उसका अवरोध विदीर्ण कर दिया—उसके मुक्त स्रोत को शत-शत धाराओ मे उच्छ्वसित होकर एक विशाल झरने की तरह अप्रतिहत प्रवेग से बह निकलने का मार्ग सुगम कर दिया। जिस प्रतिभा ने युग-युगव्यापी जड़ता से तमसाच्छन्न हमारे साहित्य-जगत् के आकाश मे नवीन प्रकाश तथा उन्मुक्तोल्लास का सञ्चार किया, वह कैसी असाधारण रही होगी, इसका अनुमान भावुकजन भली भाँति कर सकते हैं।

बचपन मे कविता-कुसुम-माला मे सगृहीत कविताओ मे निम्न कोटि की पक्तियाँ पढने को मिली थी—

"ब्रह्मन्! तजे पुस्तक-प्रेम आप,
देता तुम्हे हूँ यह राज्य सारा"—
मुझसे कहे यों यदि चक्रवर्ती,
"ऐसा न राजन्! कहिए", कहूँ मैं।

+ + +

अहा, ग्राम्य-जीवन भी क्या है!
क्यों न इसे सब का मन चाहे!

+ + +

क्यो पाप-पुण्य पचड़ा जग-बीच छाया ?

इस श्रेणी की कविताओं के विचित्र 'कुसुमो' का आघ्राण करते-करते जब सिर मे दर्द होने लगा, तो एक दिन 'इन्दु' की एक फाइल कही से मिल गई। उसके पृष्ठो को उलटते हुए अकस्मात् एक कविता की निम्न पक्तियो पर आँखे गड गयी—

आकाश श्री-सपन्न था,
नव-नीरदो से था घिरा।
सध्या मनोहर खेलती थी,
नील-पट तम का गिरा ॥
यह चचला चपला दिखाती—
थी कभी अपनी कला।
ज्यों वीर वारिद की प्रभामय
रत्नवाली मेखला ॥
हर ओर हरियाली, विटप-डाली
कुसुम से पूर्ण है।
मकरंदमय ज्यों कामिनी के
नेत्र मद से घूर्ण हैं ॥

इन पक्तियो के आविष्कार से ऐसा अनुभव होने लगा, जैसे तत्कालीन हिन्दी-कविता के निश्चल जगद्दल पाषाण की जड़ता को भेदकर गद्गद् प्रवेग से निर्झर-स्रोत फूट निकला है, और उसका अविरत प्रवाह हृदय के प्रान्त-प्रान्त को अपनी स्निग्ध सरसता से अभिसिञ्चित कर रहा है।

यह कविता पीछे प्रसादजी की अन्यान्य कविताओं के साथ 'कानन-कुसुम' नामक सग्रह मे सकलित हो गयी थी। 'कानन-कुसुम' की कविताओ मे छायावाद के आगमन की सूचना उसी प्रकार स्पष्ट दिखाई देती है जिस प्रकार प्रयाग के सगम मे गगाजल के ऊपर यमुना की नीली झाँई स्पष्ट झलक उठती है। इस सग्रह की एक और कविता—'प्रथम प्रभात'—की कुछ पक्तियाँ हम नीचे उद्धृत करते हैं, जिनसे हमारा वक्तव्य और भी अधिक स्पष्ट हो जायगा—

मनोवृत्तियाँ खग-कुल की थीं सो रही,
अन्तःकरण नवीन मनोहर नीड़ मे।
नील गगन-सा शात हृदय भी हो रहा,
वाह्य, आतरिक प्रकृति सभी सोती रही।
स्पदनहीन नवीन मुकुल मन तुष्ट था,
अपने ही प्रच्छन्न विमल मकरद मे।
अहा! अचानक किस मलयानिल ने तभी
(फूलो के सौरभ से पूरा लदा हुआ)—
आते ही कर स्पर्श गुदगुदाया हमे!
वर्षा होने लगी कुसुम मकरद की,
प्राण-पपीहा बोल उठा आनद मे।
कैसी छवि ने बालारुण-सी प्रकट हो,
शून्य हृदय को नवल-राग-रजित किया!

हिन्दी-काव्य भावनाहीन तुकबन्दी के कठोर कारागार मे पड़ा-पड़ा कराह रहा था। प्रसादजी ने उसकी शृखलाओं को तोड़कर उसे अपने

मन के भव्य प्रासाद मे सलग्न रम्य हृदयोद्यान में लाकर, मुक्त वाता-वरण में विचरने को छोड़ दिया, जहाँ वह चिदानदमय रस के मानस मे डूबता-उतराता हुआ मधुर मोह-माया का अनुभव करने लगा। ऊपर उद्धृत की गई कविता ('प्रथम प्रभात') प्रायः तीस वर्ष पहले लिखी गयी थी, अर्थात् वह उस युग मे लिखी गयी थी जब हिन्दी की तुकबदी का युग एक ओर पराकाष्ठा तक पहुँच चुका था, और दूसरी ओर उसके नीचे से मिट्टी खिसकने-सी लगी थी। तुकबदी की उस सुदृढ नींव को ढहाने मे प्रसादजी का प्रमुख हाथ रहा है।

'कानन-कुसुम' मे छायावादी कविता का जो स्रोत निकला था, वह आगे बढकर निर्झर के राशि-राशि-जल-प्रपात की तरह 'झरना' के रूप में बहने लगा। 'झरना' नामक कविता-सग्रह में विशुद्ध छाया-वाद का रस हिन्दी साहित्य मे प्रथम बार परिपूर्ण रूप से छलकता हुआ दिखाई दिया। झरने पर यदि तुकबदी-युग का कोई 'कवि' कविता करने बैठता, तो सभवतः इस तरह की पक्तियाँ लिखता—

झरने! तेरा कलकल-नाद,
मन को पहुँचाता आह्लाद।
तेरा स्वच्छ, सुशीतल नीर
मन को करता हर्ष अधीर!
अहो! शैल के पुत्र महान्!
मुनिगण तुझमे करते स्नान।
कहाँ तुम्हारा तीर्थ-स्थान?
किस सरिता का तुमको ध्यान?

धन्य-धन्य हो तुम निर्भर !
बहते हो नित झर-झर-झर ॥

पर प्रसादजी ने उसी युग मे भरने पर जो कविता लिखी वह इस प्रकार है--

मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी ।
न है उत्पात, घटा है छहरी ॥
मनोहर झरना !
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना ?
बात कुछ छिपी हुई है गहरी ।
मधुर है स्रोत, मधुर है लहरी ॥
कल्पनातीत काल की रचना ।
हृदय को लगी अचानक रटना ॥
देख कर झरना,
प्रथम वर्षा से इसका भरना—
स्मरण हो रहा शैल का कटना,
कल्पनातीत काल की घटना ।
कर गई प्लावित तन-मन सारा ।
एक दिन तव अपाग की धारा ॥
हृदय से झरना—
बह चला, जैसे दृगजल ढरना ।
प्रणय-वन्या ने किया पसारा ।
कर गई प्लावित तन मन सारा ॥

प्रसादजी का यह झरना हृदय के अतस्तल की गिरि-गुहाओ को विदीर्ण करता हुआ प्रेम-रस के प्लावन से विह्वल होकर बह रहा है। यह पार्थिव जगत् का वह झरना नही है "जिसमे मुनिगण करते स्नान !" व्यक्ति की अन्तःप्रकृति के भावों के दोलन और उद्वेलन का प्रदर्शन हम हिन्दी-कविता मे पहले-पहल प्रसादजी की कविता मे ही पाते हैं। वस्तु जगत् के झरने को अन्तर्जगत् के प्रेमोद्वेलन का रूपक बनाकर उसके कलकल-क्रन्दन को भाव-तरगों के उच्छल उद्वेग मे परिणत कर देने का अर्थ है पाठ्य-पुस्तकों की जड़ तुकबदी को चेतनोत्सारिणी का रूप दे देना। छायावादी कविता ने अपने युग मे जो विजय का डका बजाया था उसका मूल कारण इसी बात पर निहित है। प्रसादजी की प्रतिभा का विशेषत्व भी इसी बात पर है।

प्रसादजी के इस 'झरने' से रवीन्द्रनाथ के 'निर्झर' की तुलना की जा सकती है। रवीन्द्रनाथ का मन-रूपी निर्झर अपने अतर की अधगुहा के कारागार मे आबद्ध रहने के बाद जब अकस्मात् एक दिन प्रबल वेग से उमडता हुआ मुक्त आलोक में प्रवाहित हो पड़ा, तो उसने वग काव्य-क्षेत्र मे एक मूलत. नयी धारा का आनयन कर दिया। रवीन्द्रनाथ का वह निर्झर अपने विजयोल्लास को इस प्रकार के स्वच्छद छद की गति मे व्यक्त करता है—

आजि ए प्रभाते रविर कर
केमने पशिलो प्राणेर पर,
केमने पशिलो गुहार आँधारे

प्रभात पाखीर गान !
जागिया उठेछे प्राण
ओरे उथलि उठेछे वारि,
ओरे प्राणेर वासना प्राणेर आवेग
रुधिया राखिते नारि !
थर-थर करि काँपिछे भूधर
शिला राशि-राशि पडिछे खसे,
फूलिया-फूलिया फेनिल सलिल
गरजि उठिछे दारुण रोषे।
भाङ्रे हृदय भाङ्रे बाँधन,
साधरे आजिके प्राणेर साधन,
लहरीर परे लहरी तुलिया
आघातेर परे आघात कर।
मातिया जखन उठेछे पराण
किसेर आँधार किसेर पाषाण !
उथलि जखन उठेछे वासना
जगते तखन किसेर डर !
आमि ढालिबो करुणा-धारा,
आमि भाङिबो पाषाण-कारा,
जगत् प्लाविया वेड़ाबो गाहिया
आकुल पागल-पारा।
रविर किरणे हासि छड़ाइया

दिबोरे पराण ढालि,
हेसे खलखल गेये कलकल
ताले-ताले दिबो तालि !

अर्थात्—"आज के इस प्रभात मे रवि की किरणे मेरे हृदय मे कैसे प्रवेश कर गयीं ! मेरे भीतर की अँधेरी गुफा मे प्रभात-पक्षी के गान की तान कैसे आ पहुँची ! आज मेरे प्राण जाग उठे हैं। अरे, मेरे हृदय मे जलराशि उमड़ उठी है, अब मै अपने हृदय की वासना और प्राणो के आवेग को रोक नही पाता !

"भूधर थर-थर करके काँप रहा है, राशि-राशि शिलाखड खिसकते जा रहे हैं, फेनिल जल फूल-फूल कर दारुण रोष से गरज उठता है।

"हे हृदय ! आज बधन को छिन्न करके अपनी अभिलाषा पूरी कर ले। लहर पर लहर उठाकर आघात पर आघात करता चला जा। जब प्राण मतवाले हो उठे हैं तब कहाँ का अधकार और कैसा पाषाण ! जब वासना उथल उठी है तब ससार मे अब किसका डर है !

"मै करुणा-धारा बहाऊँगा। मै पाषाण-कारा को तोड़ डालूँगा। मै समस्त जगत् को प्लावित करता हुआ आकुल होकर पागलों की तरह गाता चला जाऊँगा। सूर्य की किरणो मे अपना हास बिखेरकर अपने प्राणों का रस ढाल दूँगा। खिलखिलाकर हँसूँगा, कलकल शब्द से गाऊँगा और ताल-ताल पर ताली बजाऊँगा।"

रवीन्द्रनाथ के इस 'निर्झर' मे और प्रसादजी के 'झरने' में यह साम्य है कि दोनो भाव-प्रधान हैं; दोनों मानस-निर्झर हैं, न कि किसी वास्तविक गिरि-प्रान्त से सबध रखनेवाले पार्थिव निर्झर, दोनो ने अपने-अपने

युगो मे अपने-अपने साहित्य-क्षेत्रों मे क्राति की लहर का सूत्रपात किया है। अतर केवल यह है कि रवीन्द्रनाथ के निर्झर की धारा अधिक प्रखर तथा वेगशील है और प्रसादजी का झरना करुण तथा क्लात गति से बह चला है। मानव-मन को झरने के रूपक मे बाँधकर दोनों की गति-शीलता तथा उत्ताल तरगाभिघात की समता का प्रदर्शन मनोहर छन्द-सगीत तथा ध्वन्यात्मक शब्द-प्रवाह द्वारा करना किसी आचार्य का ही काम है। प्रसादजी इस कला के विशेषज्ञ थे।

तथापि 'झरना' में हम प्रसादजी को उनके वास्तविक रूप मे नही पाते। इस सग्रह की अधिकाश कविताओ मे रवीन्द्रनाथ की रहस्यवादी कविताओ का अनुकरण पाया जाता है, और वह भी कुछ विशेष सुन्दर रूप मे नही। उदाहरण के लिये—

स्वप्नलोक मे आज जागरण के समय
प्रत्याशा की उत्कंठा मे पूर्ण था
हृदय हमारा, फूल रहा था कुसुम-सा।
देर तुम्हारे आने मे थी, इसलिये
कलियो की माला विरचित की थी कि, हाँ
जब तक तुम आओगे ये खिल जायँगी।
आँख खोल देखा तो चद्रालोक मे
रजित कोमल बादल नभ मे छा गये,
जिस पर पवन-सहारे तुम हो आ रहे।
हाय, कली थी एक हृदय के पास ही
माला मे वह गड़ने लगी, न खिल सकी।

इस प्रकार की पक्तियों को पढने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि रहस्यवादी बनने के प्रथम प्रयास मे कष्ट-कल्पित भावों के जाल मे बुरी तरह उलझ गया है, और आतरिक अनुभूति से वह कोसों दूर है। फिर भी अनुकरण का यह प्रयास इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है कि उसने हिंदी कविता की गति को मूलतः नये प्रवाह-पथ की ओर उन्मुख किया है।

जिन कविताओ पर रवीन्द्रनाथ की छाया नही पड़ी है, वे अपने सहज-सौरभ के विकास से स्वय आमोदित हैं। उदाहरण के लिये—

शून्य हृदय मे प्रेम-जलद-माला
कब फिर घिर आवेगी?
वर्षा इन आँखों से होगी,
कब हरियाली छावेगी?
रिक्त हो रही मधु से,
सौरभ सूख रहा है आतप से,
सुमन-कली खिलकर कब अपनी
पखड़ियाँ बिखरावेगी?
लबी विश्वकथा मे
सुख-निद्रा समान इन आँखों में
सरस मधुर छवि शात तुम्हारी
कब आकर बस जावेगी?

इन पक्तियों में कृत्रिम काव्य-कल्पना की क्रीडा नही, बल्कि अतर के सच्चे भावों का मर्मोद्गार व्यक्त होता है।

'झरना' की फेन-तरगित धारा को हम आगे जाकर 'आँसू' की भावस-सरिता के रूप मे गद्गद् होकर उमड़ते हुए पाते हैं। 'आँसू' की गीतिमय वेदना मे प्रसादजी के हृदय की विह्वल भावुकता उच्छल क्रन्दन के साथ अभिनव रूप मे व्यक्त हुई है। निर्झर जब उत्तुग गिरि-शृग से नोचे घाटी पर उतरता है, तो वह जिस मथर, तथापि अधीर कलरोल से बहने लगता है, वह आँसू के प्रारभिक पदो मे ही व्यक्त होता है। इन प्रसिद्ध आर बहु-उद्धृत पंक्तियों को उद्धृत करने का लोभ मै भी नही, सँभाल पाता हूँ—

इस करुणा-कलित हृदय मे
अब विकल रागिनी बजती,
क्यो हाहाकार स्वरों मे
वेदना असीम गरजती ?
मानस-सागर के तट पर
क्यो लोल-लहर की घाते
कलकल ध्वनि मे हैं कहतीं
कुछ विस्मृत बीती बाते ?
आती है विकल क्षितिज से
क्यो लौट प्रतिध्वनि मेरी ?
टकराती, बिलखाती-सी
पगली-सी देती फेरी ?
क्यों व्यथित व्योम-गंगा-सी
छिटकाकर दोनों छोरे ;

चेतना-तरंगिणि मेरी
लेती हैं मृदुल हिलोरे ?

प्रसादजी की इन पंक्तियों ने हिंदी जगत् को प्रथम बार उस वेदना-वाद की मादकता से विभोर किया जिससे बाद में सारा छायावादी युग मतवाला हो उठा था। वेदना की भयकर बाढ मे सारे युग को परि-प्लावित कर देने की जैसी क्षमता प्रसादजी के इन 'आँसुओं' मे रही है-वह हमारे साहित्य के इतिहास मे वास्तव मे अतुलनीय है।

'आँसू' मे प्रसादजी ने अपनी विकल वेदना से अभिसिंचित प्रेम की विस्मृत बातों को पुनः स्मृति मे लाते हुए जो करुणा-कलित गान गाया है, पूर्व-उद्धृत पदो में उसकी उच्छ्वसित फेनिलता अत्यत मार्मिकता से छलक उठी है। अपने चित्त-गगन के नीलम-निभ असीम प्याले को अपने अव्यक्त प्रिय-पात्र के प्रति उमडे हुए स्नेह-रस से लबालब भरने के बाद जब कवि सहसा अपने उस चिर-पूरित प्याले को एक दिन रिक्त पाता है, तो उस रिक्तता जनित सूनेपन की वेदना से उसकी सारी आत्मा-ओत-प्रोत हो जाती है। 'आँसू' के कण-कण से वेदना बरबस ढुलक-ढुलक पड़ती है।

'आँसू' का अरण्य-रोदन केवल इसलिये नहीं है कि प्रेमरस से भरी जीवन की प्याली खाली हो गयी है। सब से अधिक दुःख कवि को इस बात का है कि काल का क्रूर चक्र मानस-सागर के तट पर अभिनव तथा-अलौकिक रस-रग मे निमग्न प्राणों को अकूल समुद्र मे बहाकर, अनंत-शून्य में छोड़ कर चला गया—

नाविक इस सूने तट पर
किन लहरों में खे लाया;
इस बीहड़ बेला में क्या
अब तक था कोई आया ?
प्रत्यावर्तन के पथ में
पद-चिह्न न शेष रहा है,
डूबा है हृदय मरुस्थल
आँसू नद उमड़ रहा है।
अवकाश शून्य फैला है,
है शक्ति न और सहारा,
अपदार्थ तिरूँगा मैं क्या,
हो भी कुछ कूल किनारा !

अज्ञात, असीम सागर की विक्षुब्ध लोल-लहरियों के उत्ताल तरंगाभिघात में मनोनौका के टकरा जाने पर जो उदास हाहाकार प्रसादजी के आँसू-भरे पदों में व्यक्त हुआ है, उसकी पुराध्वनि हम फ्रेंच कवि लामार्तीन की 'ले लाक' (सरोवर) शीर्षक कविता में पाते हैं। लामार्तीन चिर-विरह की भावना से विकल होकर लिखता है—

"हाय, समय ईर्ष्यापरायण है ! हे अनंत ! हे काल के गहन तामसिक गह्वर ! तुम हमारे आनंद के जिन क्षणों को निगल जाते हो उन्हें लेकर तुम क्या करते हो ? कहो, क्या तुम मेरी उन पवित्र पुलकानुभूतियों को नहीं फेरोगे जिन्हें तुम चुरा ले गये हो ?

"हे सरोवर ! हे स्तब्ध पाषाण ! गहन अरण्य ! हे भुवनमोहिनी,

मायाविनी प्रकृति देवी के अनुचरो! कम-से-कम आज [illegible] के लिये मेरे विगत आनद के दिनों की मधुर स्मृति को तो जागरित रहने दो!

"हाय, यह मजुल पवन, जो मद-मद प्रवाहित हो रहा है, यह नर-कुल, जो आहें भर रहा है, यह भीनी-भीनी स्निग्ध सुगधि, जो सारे वातावरण को आमोदित किए हुए है—जो कुछ भी मै देख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, नि:श्वास द्वारा ग्रहण कर रहा हूँ, सब यही कहते हुए जान पड़ते हैं—'वे लोग प्यार कर चुके!'"

प्यार कर चुके! अब वह प्यार कभी नहीं लौटेगा, और न विरही प्रेमिक ही अब प्रत्यावर्तन के पथ से होकर अपने अतीत के नीड़ मे वापस जा सकेगा, क्योंकि अब "पद-चिह्न न शेष रहा है!" और—

निर्मोह काल के काले
पट पर कुछ अस्फुट लेखा
सब लिखी-पढ़ी रह जाती
सुख-दुखमय जीवन-रेखा।
दुख-सुख मे उठता-गिरता
ससार तिरोहित होगा,
मुड़कर न कभी देखेगा
किसका हित-अनहित होगा।

इस अनत विश्व की चिर-ससरणशील लीला निर्मम काल के काले पट पर सुख-दुःखमय जीवन की चिह्नरेखा स्मृति-रूप मे भले ही छोड़ जाय, पर जिस वास्तविकता को वह काल की गति के साथ ढो ले जाती है वह फिर कभी नहीं लौटती—'आँसू' का दर्शन इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है।

विस्मृति की निद्रा में उसका स्वप्न लौटकर आ सकता है, पर वह स्वयं सजीव और सप्राण रूप में नहीं आ सकती। प्रसादजी के 'आँसू' में चिदानंदमय मिलन के वास्तविक क्षणों के खोने की वेदना के साथ-साथ स्वप्न की सान्त्वना भी पाई जाती है, पर लामार्तीन की तरह उस सान्त्वना में कवि को स्वयं तोष नहीं होता, कारण यह है कि वास्तविकता वास्तविकता ही है, और स्वप्न स्वप्न।

प्रसादजी के 'आँसू' से लामार्तीन की 'सरोवर' शीर्षक कविता का मैं जितना ही मिलान करता हूँ, उन दोनों में भावों का आश्चर्यजनक साम्य पाकर उतना ही चकित होता हूँ। प्रसादजी ने निश्चय ही लामार्तीन की कविता नहीं पढ़ी थी, दोनों अपने-अपने जीवन के निजी अनुभवों से एक ही अनुभूति पर पहुँचे थे।

'आँसू' के बाद प्रसादजी की 'लहर' हमारे सामने आती है। यह 'लहर' उनके अतल 'मानस की गहराई' से उठी है। मानस की यह गहराई कैसी है?—

ओ री मानस की गहराई!
तू सुप्त, शांत, कितनी शीतल—
निर्वात मेघ ज्यों पूरित जल!
नव-मुकुर नीलमणि-फलक अमल
ओ पारदर्शिका! चिर-चंचल—
यह विश्व बना है परछाँई!
तेरा विषाद-द्रव तरल-तरल

मूर्छित न रहे ज्यो पिये गरल,
सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु-लघु, सुन्दर-सुन्दर अविरल।
तू हँस, जीवन की सुघराई !

इस लघु सुन्दर, अविरल, सरल लहर की धारा तरल विषाद-द्रव के मधुर सम्मिश्रण के साथ 'लहर' की कविताओं में उमड़ चली है। प्रारंभिक कविता मे इस लहर का चित्रण किञ्चित् विशद रूप से किया गया है—

उठ-उठ री लघु-लघु लोल लहर !
करुणा की नव अँगराई-सी
मलयानिल की परछाँई-सी
इस सूखे तट पर छिटक छहर !
शीतल, कोमल चिर-कपन-सी,
दुर्ललित हठीले बचपन-सी,
तू लौट कहाँ जाती है री—
यह खेल खेल ले ठहर-ठहर !
उठ-उठ गिर-गिर फिर-फिर आती,
नर्तित पद-चिह्न बना जाती,
सिकता की रेखाएँ उभार—
भर जाती अपनी तरल सिहर !
तू भूल न री पकज-वन में,
जीवन के इस सूनेपन में

ओ प्यार-पुलक से भरी ढुलक !
आ चूम पुलिन के विरस अधर !

यह लहर कुछ दूसरे ही ढग की है। इसकी अठखेलियो मे वह इठलाने का भाव, वह नृत्योल्लास, वह बंकिम तरगिमा, वह चपल भगिमा, वह मरोर, सौ-सौ छन्दों मे स्वच्छन्द थिरकने की वह कला नही पाई जाती, जो हम पंतजी के 'पल्लव' वाले 'वीचि-विलास' मे पाते हैं। प्रसादजी की इस लहर मे पाया जाता है जीवन के दीर्घ अनुभव के श्रम से श्रान्त पथिक के सूने विश्राम-तट पर "करुणा की नव-अँगराई" के साथ लघु-लघु लोल गति से छहरने का भाव। पतजी के वीचि-विलास मे नव-यौवनोन्माद है, और इसमे है श्लथ करुणा का अलस आवेदन। इसकी अपनी एक निजी और निराली विशेषता है। 'लहर' की सब कविताओ मे आसन्न जीवन-सध्या का करुण विषाद किसी रहस्यमयी गुरु-गंभीर छाया से आवृत है। 'लहर'-युग के प्रसादजी को हम जीवन और मृत्यु के उस सगम-स्थल पर पहुँचा हुआ पाते हैं, जहाँ कवि विपुल श्यामल पृथ्वी के छोर पर खड़ा होकर विशाल जलधि के नील अक मे निस्सीम व्योम की प्रतिच्छाया देख रहा है, और रवीन्द्रनाथ की तरह कहता है—

ए नहे मुखर वन-मर्मर गुञ्जित,
ए जे अजागर गरजे सागर फूलिछे।

—"यह मुखर वन का मर्मर गुञ्जन नहीं है, यहाँ तो विराट् अजगर की फुफकार की तरह सागर का उच्छ्वसित गर्जन सुनाई देता है।"

जीवन-मरण के इस सगम के संबध मे कवि कहता है—

हे सागर-सगम ' अरुण-नील !
अतलात महागभीर जलधि—
तजकर अपनी यह नियत अवधि,
लहरों के भीषण हासों में,
आकर खारे उच्छ्‌वासों मे,
युग-युग की मधुर कामना के
बधन को देता जहाँ ढील।
हे सागर-सगम अरुण-नील !

इन पंक्तियो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कवि केवल जीवन-लहरों के फेनिलोच्छ्‌वास से ही क्रीड़ा करना नही चाहता, वह उनके उद्‌गम की तह तक गोता लगाने के लिये उत्सुक है। इस सगम-तट से कवि जब इस पार की ओर निहार कर विगत जीवन के स्मृति-मंथन में आदोलित हो उठता है, तो एक विचित्र सृष्टि-सौदर्य की झाँकी उसके मन में उदित हो जाती है, और उसकी कल्पना कूक उठती है—

श्यामा-सृष्टि युवती थी
तारक-खचित नील-पट परिधान था।
अखिल अनत मे
चमक रही थीं लालसा की दीप्त मणियाँ
ज्योतिर्मयी, हासमयी, विकल विलासमयी।
चाँदनी के अचल मे
हरा-भरा पुलिन अलस नीद ले रहा।
सृष्टि के रहस्य-सी परखने को मुझे

तारकाएँ झाँकती थी।
शत शत दलों की
मुद्रित मधुर गंध भीनी-भीनी रोम मे
बहाती लावण्य-धारा।

कवि की इस कल्पना मे विगत उल्लसित जीवन की स्मृति-छाया तरलाभास से स्पष्ट झलक रही है। पर जब वह पीछे की ओर से मुँह मोड़कर सामने उस पार के अनत प्रसार की ओर देखता है, तो एक अव्यक्त विषादमय हाहाकार से उसका हृदय हहर उठता है। पीछे की स्मृति और आगे की विस्मृति उसे जब अत्यंत विकल करने लगती है, तो वह एक मार्मिक दार्शनिकता से सतोष प्राप्त करना चाहता है—

'सागर लहरो-सा आलिंगन
निष्फल उठकर गिरता प्रतिदिन,
जल-वैभव है सीमा-विहीन
वह रहा एक कन को निहार,
धीरे से वह उठता पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार!
पागल रे! वह मिलता है कब?
उसको तो देते ही हैं सब,
आँसू के कन-कन से गिनकर
यह विश्व लिये है ऋण उधार,
तू क्यों फिर उठता है पुकार—
मुझको न मिला रे कभी प्यार!

अंतिम पंक्तियो मे अतल नैराश्य-भरी करुण वेदना व्यंजित हुई है। उसकी तुलना वसुधा के अंचल पर टकराने वाली उन सागर-लहरियों के युगयुगांत व्यापी कल-क्रन्दन से की जा सकती है, जो पृथ्वी मे कभी अपनी प्रीति का प्रतिदान नहीं माँगती और अविरल रोदन को ही अपने उद्देश्य की सार्थकता मानती हैं। मानवात्मा के निष्काम प्रेम की चिर-करुण मर्म-ध्वनि उक्त पदो मे फूट पड़ी है।

प्रसादजी के 'झरने' से 'आँसू' की बूंदे छहर कर जिस सागर-संगमोन्मुखी 'लहर' मे मिलकर एकाकार हुई हैं, वे 'कामायनी' के महा-सागर मे जाकर विलीन हो गई हैं। इस महासागर मे केवल प्रसादजी की ही अन्य रचनाएँ नहीं समा गई हैं, बल्कि छायावादी युग के प्रायः सभी कवियो की काव्य-सरिता धाराएँ इसकी अतलव्यापी गंभीरता मे आकर विलीन हो गई हैं। 'कामायनी' को पढने के बाद प्रसादजी की सब रचनाएँ और दूसरे छायावादी कवियों की सब कृतियाँ अत्यंत फीकी और हलकी जान पड़ने लगती हैं। मै व्यक्तिगत रूप से 'कामायनी' को छायावादी युग की चीज़ नहीं समझता हूँ, क्योंकि छायावादी कवियों ने (जिनके आचार्य स्वयं प्रसादजी थे) जिस संकीर्ण स्वार्थ-जनित भावुक वेदना और घोर असामाजिक तथा आत्मगत मनोवृत्ति का परिचय दिया 'कामायनी' के कवि ने पूरी शक्ति से उसका विरोध किया है। 'कामायनी' हिंदी-जगत् का सब से पहला और सब से सुन्दर प्रगतिशील काव्य है। इस काव्य में कवि ने जीवन की गहराई मे पैठकर वर्तमान युग की समस्त प्रति-क्रियात्मक मनोवृत्तियों का पर्दाफाश ऐसे सुन्दर काव्यपूर्ण और नाटकीय ढंग से किया है कि कोई भी अनुभूतिशील व्यक्ति उसे पढकर विस्मय-विमुग्ध

हुए बिना नहीं रह सकता। ऐसा बोध होने लगता है कि कवि जैसे जीवन और मृत्यु की सब शक्तियों से परिचित हो चुका है और उन शक्तियों पर पूर्ण नियत्रण प्राप्त करके उन्हें एक-एक करके काव्य के अन्तर्जगत् के विशाल प्रागण में तीर की तरह फर्राटे के साथ फेंक रहा है। उसके एक-एक तीर के सबध मे हम उसी की भाषा में कह सकते हैं—

अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब
यह छूट पड़ा है विषम तीर—
किस लक्ष्य-भेद को शून्य चीर !

'कामायनी' के सबध में मेरी यह धारणा है कि उसकी रचना मानवात्मा की उस चिरन्तन पुकार को लेकर हुई है जो आदि-काल से चिर-अमर आनद और चिर-अजर शक्ति प्राप्त करने की आकाक्षा से व्याकुल है। इस घोर अहम्मन्यतापूर्ण दुर्दम आकाक्षा की चरितार्थता के प्रयत्न मे मानव को जिन सकट-सकुल गिरि-पथों, जिन जटिल जाल-जड़ित गहन अरण्य-प्रान्तरों तथा घोर अधकाराच्छन्न कराल रात्रियों का सामना करना पड़ता है, उनके सघात की वेदना 'कामायनी' मे बिजली के शब्द से कड़कती हुई बोल उठी है।

आत्मोत्कर्ष की प्रेरणा उन्नत स्वार्थ से प्रणोदित भले ही हो, पर है वह स्वार्थ ही। सामान्य रूप से सभी मनुष्यों मे और विशेष रूप से प्रतिभाशाली पुरुषों मे यह प्रवृत्ति जड पकड़े रहती है, पर उस जड के पास ही एक दूसरी प्रवृत्ति का अत्यत महत्त्वपूर्ण बीज पनपने की व्याकुलता व्यक्त करता रहता है। वह है विश्वात्मा के अनत प्रेम-सागर मे अपने को विलीन कर देने की प्रवृत्ति। इन दो प्रवृत्तियों के सघर्ष का धूम्रोद्गार

अपने विश्व-कुहर से आत्म-गगन को छा देने का प्रयत्न करता रहता है, और इस क्रिया-चक्र मे नियति-नटी के इन्द्रजाल की निर्मम क्रीड़ा चला करती है। जब जल-प्रलय के बाद सृष्टि मे क्राति की उथल-पुथल मच जाने पर मनु अपनी अतरग प्रतिभा की सहज स्फूर्ति से मानवी सृष्टि के लिये प्रेरित हुए, और इस उद्देश्य से श्रद्धारूपिणी कामायनी के साथ-सबध स्थापित करने मे समर्थ हुए, तो वह भी आत्मोत्कर्ष और आत्मत्याग इन दो प्रवृत्तियो के सघर्ष के शिकार बने और इस द्वन्द्व के फलस्वरूप श्रद्धा को खो बैठे। उनके आत्म-गगन मे फिर से चिर-पुरातन अधकार की रुद्र-लीला चलने लगी, और वह आर्तभाव से पुकार उठे—

इस विश्वकुहर मे इद्रजाल
किसने रचकर फैलाया है ग्रह-तारा-विद्युत्-नखतमाल
सागर की भीषणतम तरग-सा खेल रहा वह महाकाल
तब क्या इस वसुधा के लघु लघु प्राणी को करने को सभीत,
उस निष्ठुर की रचना-कठोर केवल विनाश की रही जीत ?
तब मूर्ख आज तक क्यों समझे हैं सृष्टि उसे जो नाशमयी ?
उसका अधिपति होगा कोई जिस तक दुख की न पुकार गई
सुख नीडों को घेरे रहता अविरत विषाद का चक्रवाल
किसने यह पट है दिया डाल !

* * *

जीवन निशीथ के अधकार !
तू घूम रहा अभिलाषा के नव ज्वलन धूम सा दुर्निवार
जिसमें अपूर्ण लालसा कसक, चिनगारी सी उठती पुकार,

यौवन मधुवन की कालिन्दी बह रही चूमकर सब दिगन्त,
मन-शिशु की क्रीड़ा-नौकाएँ बस दौड़ लगाती हैं अनन्त;
इस चिर-प्रवास श्यामल-पथ मे छाई पिक-प्राणो की पुकार,
बन नील प्रतिध्वनि नभ अपार !

जीवन-निशीथ के इसी अधकार के बारे मे फ्रेंच कवि विक्तर हूगो ने अपनी 'ला देस्तिने' शीर्षक कविता मे लिखा है—"मै—जिसे कि लोग कवि कहते हैं—नीरव निशीथ के गहन तमसाच्छन्न और अनंत रहस्यपूर्ण सोपान क तरह हूँ। मेरे उस तमोजाल पूर्ण सोपान-मार्ग के चक्रवाल में छाया नटी अपने नेत्र गह्वरो को विदारित किए रहती है।"

'कामायनी' की सारी कविता मे इसी माया-कुहेलिका के अधकार-मय पर्दे को भेद कर मुक्त प्रकाशमय जीवन-लोक म प्रवेश करने की आकाक्षा प्रतिध्वनित हुई है। संकीर्ण अहम् के जटिल जाल की उलझन से मुक्ति पाकर विश्व के उदार प्रागण मे उतरने और सामूहिक मानव के उत्कर्ष रूपी महायज्ञ मे सब के साथ समान रूप से हाथ बटाने का आदर्श प्रसादजी ने इस काव्य मे निर्देशित किया है।

मनु की प्रतिभा आत्म-विलास की स्वार्थगत भावना से प्रसूत होती है। श्रद्धा के सयोग से मनु की आत्मा मे उसके हृदय की सवेदनात्मक छाया पड़ती है। पर चूँकि इस छाया से मनु के आत्मोकर्ष की सुख-साधना मे बाधा पहुँचती है, इसलिए श्रद्धा को मनु त्याग देते हैं। इसके बाद इड़ा के सहयोग से उनके अतर मे बुद्धि का तर्कजाल प्रसारित होने लगता है। आत्मोकर्ष की प्रवृत्ति, समवेदनमयी भावना और बुद्धि की तार्कि-कता—ये तीनों मनुष्य की महाशक्तियाँ हैं। पर जब ये शक्तियाँ एक-

दूसरे से विच्छिन्न होकर परस्पर-विरोधी रूप से अपने-अपने एकातिक विकास मे रत होती हैं तो वे विश्व-नियम मे घोर वैषम्य, द्वंद्व और अशाति उत्पन्न करती हैं। और, जब ये तीनों एक रूप मे मिलित होकर पारस्परिक सहयोग द्वारा विश्व की मूल शक्ति के साथ एकप्राण हो जाती हैं, तो विश्व के चरम कल्याण-साधन में सहायक सिद्ध होती हैं।

मनु अपने मन को अधशक्तियो के अनेक घात-प्रतिघातों के बाद अत में इस महासत्य को समझ गये थे। बुद्धि की तार्किक छुरी द्वारा क्षत-विक्षत अपने जीवन मे उन्होंने श्रद्धा को फिर मे वरण कर लिया और वरण करते ही उन्हें अनुभव हुआ कि—

सत्ता का स्पन्दन चला डोल,
आवरण-पटल की ग्रन्थि खोल,
तम-जलनिधि का वन मधु-मथन
ज्योत्स्ना-सरिता का आलिंगन,
वह रजत-गौर उज्ज्वल जीवन,
आलोक-पुरुष ! मंगल चेतन !
केवल प्रकाश का था कलोल,
मधु-किरणों की थी लहर लोल।

कामायनी और इड़ा (श्रद्धा और बुद्धि) का मगलमय सहयोग प्राप्त करके मनु समरसता के उदार प्रेममय सागर मे डुबकियाँ लगाने लगे।

हमे खेद है कि 'कामायनी' के सागर की एक साधारण-सी लहरी से भी हम पाठकों को परिचित न करा सके। वास्तव मे इस महासागर का पूर्ण परिचय इस लेख में देना असभव है। इस अमूल्य रचना में

प्रसादजी ने मानवात्मा की विभिन्न प्रवृत्तियों के घात-प्रतिघातों का परिचय जिस नाटकीय निपुणता से दिया है वह गेटे की विश्व-विख्यात रचना 'फाउस्ट' से टक्कर लेती है। विरोधी प्रवृत्तियों के सामंजस्य का जो महान् आदर्श 'कामायनी' के कवि ने परिस्फुट किया है उससे वह फाउस्ट के तार्कवादी कवि से भी आगे बढ गया है।

आधुनिक हिन्दी काव्य में नारी

सृष्टि के प्रारम्भ से ही पुरुष और प्रकृति की बराबर मान्यता रही है, क्योंकि सृजन और विकास के लिए दोनों आवश्यक हैं। प्राचीन युग में सदैव ईश्वर-ईश्वरी को, प्रकृति-पुरुष को, जनक-जननी को, शिव-शिवा को एक ही भाव तथा रूप से प्रणाम किया गया है। मध्ययुग मे जब पुरुषों ने आक्रमणकारियों के भय से स्त्रियों को परदे मे छिपाना प्रारम्भ किया, तभी से स्त्रियों की दशा दिन प्रति-दिन दयनीय होती गयी। पुरुषों की इस दुर्बलता का, स्त्रियों की रक्षा करने मे उनकी इस असमर्थता का दण्ड आज तक स्त्रियों को भोगना पड़ रहा है। छिपा रखने की इस प्रथा के साथ स्त्रियों के प्रति साधारण दृष्टिकोण भी बदल गया और अब वह केवल भोग्य वस्तु सी बन गयी। इसका एक और भी परिणाम हुआ। जब वह उपभोग्य हो गयी तब स्वभावतः उनकी दृष्टि से गिर गयी, जो समस्त भोगों के त्याग को ही मुक्ति का साधन मानते हैं। इन मुक्ति प्रेमियों के लिए मातृत्व तथा पत्नीत्व का आदर्श नष्ट हो गया, रह गया केवल कामिनीत्व। फिर क्या था, सभी ने कामिनी की निन्दा करनी प्रारम्भ कर दी!

उस समय से आज तक नारी को केवल कामिनी के ही रूप मे देखा गया है। अपवाद-स्वरूप कुछ अन्य उज्ज्वल चित्र भी हैं, किन्तु आधिक्य कामिनी-काञ्चन की निन्दा का ही है। सर्वप्रथम सूरदास के कुछ चित्र देखिये।

सूरदास के युग मे कोई निश्चित सामाजिक आदर्श नहीं था। लोग अपनी झूठी शान में मस्त रहते थे। उनका कर्तव्य था विलासिता, मन्दिरो मे लीलागान। सूरदास का प्रिय विषय था इस लीलागान में प्रेमाभिव्यक्ति। प्रेम के दोनो पहलुओं, सयोग तथा वियोग, के मार्मिक चित्र सूरदास ने दिये हैं। स्त्री के रूप-सम्बन्धी रूढियाँ सामुद्रिक लक्षणो तथा मायामयी देवियों के रूप और कामशास्त्रीय विश्वासों से ली गयी हैं। गोपियों का प्रेम ऐसी ही परम्परागत रूढियों से भरा पड़ा है, यद्यपि यशोदा एव राधा का प्रेम बहुत ही स्वाभाविक है, प्रेम का ऐसा प्राञ्जल स्वरूप तथा स्त्री का समर्पण शायद अन्यत्र नहीं है। इसके बाद हमे तुलसीदासजी द्वारा दिया गया सीता का चित्र मिलता है। पार्श्ववर्ती अनेक अन्य चित्र भी हैं, किन्तु प्रधान चित्र सीता का ही है। सीता के चित्रण मे जो अलौकिकता तथा मधुरता उन्होंने भर दी है, वह युगयुगों तक मान्य बनी रहेगी।

सूरदास तथा तुलसी के सजीव चित्रणों ने इन पात्रों मे इतनी चेतना ला दी है कि वे अपने जातीय विकास एवं परम्परागत आदर्श के प्रतीक से बन गये हैं। आज भी काव्य में वही सीता, वही राधा तथा वही गोपियाँ नितनव-नवीन रूप मे मिलती हैं।

आज का कवि एक द्वन्द्वमय प्राणी है। उसके सामने कुछ प्राचीन आदर्श तथा परम्पराएँ हैं और कुछ आधुनिकता के अपनाने का ममत्व। नारी के प्रति भी युग का, विशेषकर कवि का, यही द्वन्द्व चल रहा है। एक ओर पाश्चात्य वर्णों से रङ्गमय उसका स्वरूप और उसकी तार्किक समानता तथा दूसरी ओर मर्यादित भारतीय ललनाओं का आभिजात्य।

इसका फल यह हुआ है कि आज का भारतीय पुरुष नारी के प्रति वैसा ही अनुदार बना हुआ है, जैसा कभी था। हाँ, इस आधुनिकता की ओट में कवियों ने प्राचीन आदर्श नारी चित्रो पर अपनी नवीनता की कूँची चलाने की इच्छा से उन चित्रों को अधिक कुरूप कर देने का प्रयत्न अवश्य किया है। सूरसागर की राधा, जो न विलासिनी है न ग्वालिन, वरन् है केवल विशुद्ध प्रेम की प्रतिमूर्ति, वह आज इस रूप में हमारे सामने उपस्थित होती है :

रूपोद्यान प्रफुल्लप्राय कलिका राकेन्दु-विम्वानना ।
तन्वङ्गी कलहासिनी सुरसिका क्रीडा-कला पुत्तली ॥
शोभा वारिधि की अमूल्य मणि-सी लावण्य लीलामयी ।
श्री राधा मृदुभाषिणी मृगदगी माधुर्य्य सन्मूर्ति थी ॥
फूले कञ्ज समान मञ्जु दृगता थी मत्तता कारिणी ।
सोने-सी कमनीय कान्ति तन की थी दृष्टि उन्मेषिनी ॥
राधा की मुस्कान की मधुरता थी मुग्धता मूर्ति-सी
काली कुञ्चित लम्बमान अलकें थी मानसोन्मादिनी ॥
नाना भाव-विभाव-हाव-कुशला आमोद आपूरिता ।
लीला-लोल कटाक्ष-पात-निपुणा भ्रू-भङ्गिमा पण्डिता ॥

सूर-तुलसी के नारी-चित्रण के बाद रीतिकाल में कुछ ऐसे शृंगारी चित्र मिलते हैं कि उनकी चर्चा न करना ही उचित है। किन्तु आज की इस राधा का चित्र भी चिन्त्य है। राधा का 'क्रीड़ा-कला पुत्तली' की अपेक्षा केवल राधा रहना ही क्या बुरा था। क्या किसी नारी के नेत्र दूसरे भावों का वहन करने में समर्थ नहीं होते? स्नेह के सरस

संवरण मे क्या नारी से सयत सुघरता सम्भव नहीं है? शिक्षा की अनेक शाखाओ को छोड़ कर क्या वह केवल भ्रू-भङ्गिमा मे ही पण्डिता हो सकती है? इसका कारण शायद हमारी मलिन मनोवृत्ति ही है।

यहाँ अचानक तुलसीदास की जीव-कोटियों का स्मरण हो आता है :

'विपयी साधक सिद्ध सयाने'।

आइए अब आज की सीता को भी देखे! स्मरण रहे कि यह वही सीता हैं, जिनकी मर्यादा का तुलसीदास ने इतना ध्यान रक्खा है कि 'सोह नवल तन सुन्दर सारी। जगत जननि अतुलित छवि भारी', जिनकी पतिपारायणता का चित्रण इस प्रकार किया है :

'स्याम सरोज दाम सम सुन्दर,
प्रभु भुज करि कर सम दसकन्धर।'
'सो भुज कण्ठ कि तव असि घोरा,
सुन सठ अस प्रमान प्रन मोरा'।

सागर पार बिना किसी खोज-पता के पड़ी सीता राम के प्रति यह आस्था तथा अपने मे इस श्रेणी का विश्वास एव साहस रखती है। आज वही सीता—जिसने अपने प्रियतम राम को भी प्रभु छोड़ कर कभी और कुछ शायद ही सम्बोधन किया हो, लक्ष्मण से कहती हैं :

देवर तुम कैसे निर्दय हो,
घर आए जन का अपमान।
किसके पर-नर तुम, उसके जो
चाहे तुमको प्रान समान?

याचक को निराश करने मे,
हो सकती है लाचारी ।
किन्तु नहीं आई है आश्रय,
लेने को यह सुकुमारी !
देने ही आई है तुमको,
निज सर्वस्व बिना सङ्कोच ।
देने मे कार्पण्य तुम्हें हो,
तो लेने मे है क्या सोच ?

* * *

कवि को आधुनिक सीता के इस रूप से सान्त्वना नहीं मिलती, अस्तु वह आगे कहलाता है—

घर में ब्याही बहू छोड़कर,
यहाँ भाग आए हैं ये ।
इस वय में क्या कहूँ कहाँ का,
यह विराग लाए हैं ये !

इतना ही नहीं, वरन् कवि सम्भव सरस सलाप की समाप्ति ही करके सन्तोष पाता है :

किन्तु तुम्हारी इच्छा है तो
मैं भी इन्हें मनाऊँगी,
रहो यहाँ तुम अहो तुम्हारा
वर मैं इन्हें बनाऊँगी !

लक्ष्मण तथा राक्षसी के बीच मे ऐसी बातें करने के बाद भी

सीता शान्त नहीं होती, वरन् अब वह अपनी बहिन उर्मिला की ओर से ठेकेदारी करने को भी तैयार होती है।

आज उर्मिला की चिन्ता यदि
तुम्हे चित्त मे होती है।
कि वह विरहिणी बैठी मेरे
लिए निरन्तर रोती है।
तो मैं कहती हूँ, वह मेरी
बहिन न देगी तुमको दोष,
तुम्हे सुखी सुन कर पीछे भी
पावेगी सच्चा सन्तोष!

यह है सीता का चित्र!

अभी तक के ये दोनों चरित्र बहुत प्राचीन हैं। इनके प्रति अपनी उदारता या अनुदारता दिखा कर आज का कवि कुछ परिवर्तन नही कर सकता; क्योंकि चाहे वह अपने अनुराग का कुमकुम उन पर छोड़े, चाहे श्रद्धा की रोली, उनका कुछ बनता-बिगड़ता नही। ये चित्र तो प्राचीन होते हुए नवीन हैं और नवीन होते हुए पुरातन।

आधुनिक काव्य मे कुछ स्वतन्त्र नारी-सृष्टियाँ भी हुई हैं। कुछ बहुत सुन्दर तथा करुण चित्र हैं, किन्तु साधारणतया लोगो ने नारी को उसके एक ही शृङ्गारी रूप मे देखने की चेष्टा की है। ऐसा करने से निश्चित रूप मे नारी का पूर्ण रूप प्रस्फुटित नही हो सकता; क्योंकि उसके नाना रूपों की व्यापकता भी तो किसी से नहीं छिपी है।

रवीन्द्रनाथ द्वारा इस बात की चर्चा चलने पर कि उर्मिला ऐसी

सुन्दर सती की काव्य मे उपेक्षा की गई है, कुछ कवियो को उसके स्वरूप-निर्माण की सूझी और उन्होने उसे इस प्रकार चित्रित कर डाला कि वह बेचारी काव्य-परम्परागत एक नायिका के सिवाय, सम्भवतः कुछ नहीं रह गई ! तभी तो वह अपनी वियोग-दशा मे कहती है कि—

मेरे चपल यौवन बाल !
अचल अञ्चल मे पडा सो, मचल कर मत साल !
मन पुजारी और तन इस दुःखिनी का थाल !
भेंट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल !

उपर सीता का लक्ष्मण से ऐसी बाते करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। आधुनिक भाभो भो तो एक मर्यादा का पालन करेगी। अपनी बहिन के प्रति इतनी उदार शायद वह न बन सकेगी, फिर बेचारी सीता का क्या कहना है! इसी प्रकार वह उर्मिला, जिसके लिए महाकवि ने मूक ही रहना उचित समझा हो, अपने यौवन को सम्बोधन करके ऐसी बाते कदापि नही कर सकती, अन्यथा अनेक रीछ-भालुओं तथा बन्दरों को अपनी लेखनी से अमरत्व प्रदान करने वाला कवि उसके विषय मे मौन क्यों रहता ? सम्भवतः यह कवि की उपेक्षा नही, बल्कि उर्मिला की वेदना की गुरुता तथा व्यापकता का ही सूचक है। इन प्राचीन चित्रों को लेकर आधुनिकता-प्रिय कवियो ने इनका एक विचित्र रूप-सा कर दिया है। अब वे ठीक से न प्राचीन हैं, न नवीन, कुछ इधर-उधर मिले जुले से लगते हैं, जैसे विकलाङ्ग हों।

प्राचीन पात्रों को लेकर कवि ने 'यशोधरा' के नाम से अवश्य ही सफलता पाई है। उसमे वही भारतीय आदर्श करुणा और ममता की

अबाध धारा, वही पति-प्रेम तथा वही कुल-ललनाओं की मर्यादा है। यशोधरा में माता तथा प्रेयसि का, जो नारी का मूलगत प्राण है, बहुत सुन्दर स्वाभाविक विकास है। उसके प्रथम पृष्ठ पर लिखी ये पक्तियाँ मानो नारीत्व की सजीव शब्द-प्रतिमा हों :

अबला जीवन, हाय, तुम्हारी यही कहानी—
आँचल मे है दूध और आँखो मे पानी।

अपने स्वामी के चले जाने पर यशोधरा कहती है :

सिद्धि-हेतु स्वामी गए यह गौरव की बात,
पर चोरी-चोरी गए, यही बड़ा व्याघात !
सखि, वे मुझसे कह कर जाते
कह, तो क्या मुझको वे अपनी पथ-बाधा ही पाते ?

मुझको बहुत उन्होने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना ?
मैने मुख्य उसी को माना,
जो वे मन मे लाते।

स्वय सुसज्जित करके क्षण मे,
प्रियतम को प्राणो के पण में,
हमी भेज देती हैं रण मे,—
क्षात्र धर्म के नाते !

जायँ, सिद्धि पावे वे सुख से
दुखी न हो इस जन के दुख से

उपालम्भ दूँ मै किस मुख से
आज अधिक वे भाते !

कितनी महानता का ज्ञापन उसके इस कथन से होता है। आत्म-समर्पण की भावना तो मानों स्वय बोल उठी हो। वह अपनी वियोग-व्यथा से विचलित नही है, वरन् वह सोच रही है, कि—

मिला न हा इतना भी योग,
मै हँस लेती तुझे वियोग,
देती उन्हे विदा मै गाकर,
भार झेलती गौरव पाकर।

परन्तु अब क्या होता। अब तो वे चले गये थे। अस्तु, वह अपने मन को तुरन्त इस प्रकार समझा लेती है :

अब कठोर हो वज्रादपि ओ कुसुमादपि सुकुमारी !
आर्यपुत्र दे चुके परीक्षा अब तो मेरी बारी !!

इतना सोचते ही उसका नारीत्व जाग पड़ता है, आत्म-चेतना से ज्ञान की ज्योति फूट पडती है। ममता, करुणा तथा व्यग्य का एक सुन्दर इन्द्रधनुषी वातावरण बन जाता है—

आओ नाथ, अमृत लाओ तुम मुझमे मेरा पानी,
चेरी ही मै बहुत तुम्हारी मुक्ति तुम्हारी रानी !
प्रिय, तुम तपो सहूँ मै भरसक, देखूँ बस हे दानी,
कहाँ तुम्हारी गुण-गाथा मेरी करुण कहानी !

पत्नी की इस अवस्था तथा पवित्रता के पश्चात् यशोधरा का मातृत्व भी बहुत ही मनोहर बन पड़ा है—

किलक अरे मैं नेक निहारूँ,
इन दाँतो पर मोती वारूँ ।
आ, मेरे अवलम्ब, बता क्यों अम्ब अम्ब कहता है?
'पिता पिता' कह, बेटा, जिनसे घर सूना रहता है!
दहता भी है, बहता भी है, यह जी सब सहता है।
फिर भी तू पुकार, किस मुँह से हा! मैं उन्हें पुकारूँ?

पुत्र-प्रेम के साथ पति का यह स्मरण अपने ढङ्ग का अनोखा है। इस सब का सुफल भी कितना अच्छा हुआ। बुद्ध भगवान स्वय उसके पास आ कर कहते हैं—

मानिन, मान तजो लो रही तुम्हारी बान!
दानिन, आया स्वय द्वार पर यह तव तत्र भवान!
क्षमा करो सिद्धार्थ शाक्य की निर्दयता प्रिय जान,
मैत्री करुणापूर्ण आज वह शुद्ध-बुद्ध भगवान।

उनको उत्तर भी यशोधरा ने बहुत सुन्दर दिया :

तुम भिक्षुक बन कर आए थे गोपा क्या देती स्वामी?
था अनुरूप एक राहुल ही, रहे सदा यह अनुगामी!
मेरे दुख में भरा विश्व-सुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी!

इस सर्वस्व समर्पण के द्वारा यशोधरा ने अपना मातृत्व भी निवेदित कर दिया। नारी-जीवन का इससे बढकर और साफल्य भी क्या है?

नारीत्व के इसी महत्व के सामने सदैव सब को अपना शीश झुकाना पड़ा है, यथा :

है स्वामिनी जगत के उर की
प्रेम राज्य की रानी !
युग-युग के अगणित क्लेशों की
तू है करुण कहानी !
मानव कुल की शक्तिदायिनी
तू है भव्य भवानी !
बनती है तू विश्व विजयिनी
ले आँखों में पानी !

अस्तु, जब कवि नारी का भावना-रूप लेगा तब उसे पग-पग पर उसके सामने नत-मस्तक होना पड़ेगा, किन्तु जब वह उसकी भौंडी भौतिकता पर ही उतर आएगा तब उसके सभी चित्र वास्तव में स्थूल तथा कुरूप होंगे। भावनाएँ शाश्वत हैं, भौतिकताएँ क्षणिक और परिवर्तनशील। अन्यथा कौन नहीं जानता कि यह संसार का सृजन, पालन तथा विकास मा की ही महिमामयी ममता का फल है :

मानवता है मूर्तिमती तू
भव्यभाव-भूषण-भाण्डार,
दया क्षमा ममता की आकर
विश्व-प्रेम की है आधार !
तेरी करुण साधना का माँ
है मातृत्व स्वयं उपहार !

नारी के ये ऊपर दिए गए चित्र आधुनिक उत्तर काल के हैं। इधर जब से काव्य में छायावाद का प्राधान्य हुआ तब से नारी-चित्रण

में कुछ और अधिक विशेषता आ गयी है। उसका स्वरूप स्थूल से सूक्ष्म हो गया है। उसकी भौतिकता ने जैसे अध्यात्मिकता की चूनरी ओढ़ ली हो, कुछ अधिक भावुक और कोमल। इसमें भी सन्देह नहीं, कि केवल कल्पना की उड़ान मे, कभी-कभी उसका स्वरूप एकदम अस्पष्ट भी हो गया है, किन्तु फिर भी नारीत्व की भावना-शुद्ध सौन्दर्य के प्रतीक स्वरूप अधिक सुन्दर कोमल हो गयी है। यों तो उसकी छाया-त्मकता मे भी कुछ कवि उसकी भौतिक माँसलता का भूत अपने से अलग नही कर पाये, किन्तु अपवादो से तो किसी सत्य की स्थापना मे ही योग मिलता है। छायावाद मे प्रधानतया नारी के दो रूप मिलते हैं—नारी अपनी पार्थिव प्रतिमा के रूप मे तथा नारी सौन्दर्य-सिद्धान्त के रूप मे। इन्ही का हम आगे दर्शन करेंगे।

भारत मे साहित्य तथा समाज दोनों ने नारी की मान्यता को सदियों से कुछ उपेक्षित-सा कर रक्खा है, और इसके परिणाम-स्वरूप देश की जो दशा हुई है वह किसी से आज छिपी नही है। देखिए न एक चित्र—

वह इष्ट देव के मन्दिर की पूजा-सी
वह दीप शिखा-सी शान्त, भाव मे लीन,
वह क्रूर काल-ताण्डव की स्मृति रेखा-सी,
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन
दलित भारत की ही विधवा है!

यह भारत की एक विधवा का चित्र है। कवि ने अपनी काव्य-करुणा नारी के इस विधवा रूप को दी है। एक सत्य के कई पहलू होते हैं। एक ही वस्तु के परीक्षण के भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण सम्भव हैं। एक

दूसरा कवि नारी के प्रति अपनी ममता एक दूसरे प्रकार से अभिव्यक्त करता है :

पुरुष वासना की सीमा से
पीड़ित नारी जीवन,
नर नारी का तुच्छ भेद है
केवल युग्म विभाजन!
योनि मात्र रह गई मानवी
निज आत्मा कर अर्पण,
पुरुष प्रकृति की पशुता का
पहने नैतिक आभूषण!
नष्ट हो गई उसकी आत्मा,
त्वचा रह गई पावन,
युग-युग से अवगुण्ठित गृहिणी
सहती पशु के बन्धन!
मुक्त करो जीवन-सङ्गिनि को,
जननि देवि को आहत,
जग जीवन में मानव के सँग
हो मानवी प्रतिष्ठित!
प्रेम स्वर्ग हो धरा, मधुर
नारी महिमा से मण्डित,
नारी मुख की नव किरणों से
युग प्रभात हो ज्योतित!

इस कविता में नारी का स्वरूप तथा उसकी सामाजिक अवस्था के

सम्बन्ध में कवि का एक दृष्टिकोण है, साथ ही उद्‌बोधन भी।

यह पहिले कहा जा चुका है, कि छायावाद में नारी का चित्रण अधिकतर सौन्दर्य सिद्धान्त के रूप में ही हुआ है! वही इस युग की सुन्दर देन है :

घने लहरे रेशम के बाल,—
धरा है सिर पर मैंने देवि!
तुम्हारा यह स्वर्गिक शृङ्गार
स्वर्ण का सुरभित भार।
स्नेहमयि! सुन्दरतामयि!
तुम्हारे रोम-रोम से नारि!
मुझे है स्नेह अपार,
तुम्हारा मृदु उर ही सुकुमारि!
मुझे है स्वर्गागार!
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता ध्यान;
तुम्हारी पावनता, अभिमान
शक्ति पूजन सम्मान,
अकेली सुन्दरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान!
स्वप्नमयि! हे मायामयि!
तुम्हीं हो स्पृहा अश्रु औ हास,

सृष्टि के उर की साँस;
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास,
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान;
देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण !

नारी के मूल रूपों के प्रति इसमें एकान्त आत्मनिवेदन है, किन्तु वह वासना से बोझिल नहीं, वरन् स्नेह से और श्रद्धा से शुभ्रतर है। छायावाद ने नारी के कुछ ऐसे सुन्दर चित्र दिये हैं, जिनका हमारे साहित्य को गर्व हो सकता है :

वह है सुहाग की रानी,
भाव मग्न कवि की वह एक मुखरता-वर्जित वाणी।
सरलता से ही उसकी होतीं मनोरञ्जना
नीरवता ही करती उसकी पूरी भाव व्यञ्जना !
अगर कहीं चञ्चलता का प्रभाव कुछ उस पर देखा,
तो थी वह प्रियतम के आगे मृदु स्निग्ध हास्य की रेखा,
बिना अर्थ की—एक प्रेम ही अर्थ—और निष्काम
और बहाती हुई शान्ति-सुख की धारा अविराम !
उसमें कोई चाह नहीं है।
विषय-वासना तुच्छ, उसे कोई परवाह नहीं है।
खुल कर अति प्रिय नीरव भाषा ठण्ढी उस चितवन से
क्या जाने क्या कह जाती है अपने जीवन-धन से !

एक तीसरे प्रकार के भी चित्र काव्य मे हैं। कवियों ने प्रकृति-रूपकों के साथ नारी-स्वरूप का बहुत ही सुन्दर निरूपण किया है। कुछ रूपक तो इतने सर्वाङ्गपूर्ण तथा सजीव बन पड़े हैं, कि प्रकृति मे अपने सारे सौन्दर्य के साथ स्पन्दन-सा जग पड़ा है :

बीती विभावरी जाग री!
प्राची पनघट में डुबो रही तारा घट ऊषा नागरी!

जहाँ तक मेरा अध्ययन है, प्रकृति सुन्दरी का ऐसा चित्र अन्यत्र नही :

रूपसि तेरा घन केश-पाश!
श्यामल-श्यामल कोमल-कोमल,
लहराता सुरभित केश-पाश!
नभ-गङ्गा की रजत धार मे
धो आई क्या इन्हे रात?
कम्पित हैं तेरे सजल अङ्ग,
सिहरा-सा तन हे सद्यस्नात!
भीगी अलकों के छोरों से
चूतीं बूँदे कर विविध लास!
इन स्निग्ध लटो से छा दे तन
पुलकित अङ्गों मे भर विशाल;
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अङ्कित कर इसका मृदुल भाल;
दुलरा दे ना बहला दे ना

यह तेरा शिशु जग है उदास !
रूपसि तेरा घन केश-पाश !

सौन्दर्य-बोध के साथ प्रकृति मे जो मातृत्व की स्थापना की गयी है, वह बहुत ही सरस एव सुरुचिपूर्ण है। इसी प्रकार का एक और प्रकृति-मय नारी चित्रण दर्शनीय है :

लय गीत मदिर, गति ताल अमर,
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर !
आलोक तिमिर सित असित चीर,
सागर गर्जन रुन-झुन मंजीर,
उड़ता झञ्झा मे अलक-जाल,
मेघों मे मुखरित किङ्किण-स्वर !
रवि-शशि तेरे अवतस लोल,
सीमन्त जटित तारक अमोल,
चपला विभ्रम, स्मित इन्द्रधनुष,
हिमकण बन झरते स्वेद निकर !
युग है पलकों का उन्मीलन—
स्पन्दन मे अगणित लय-जीवन
तेरी श्वासों में नाच-नाच
उठता बेसुध जग सचराचर !
तेरी प्रतिध्वनि बनती मधु दिन,
तेरी समीपता पावस क्षण,

रूपसि छूते ही तुझमे मिट
जड़ पा लेता वरदान अमर
अप्सरि तेरा नर्तन सुन्दर !

कितना सर्वाङ्ग स्वरूप-निरूपण है। प्रकृति-सुन्दरी का विराट रूप सामने साकार हो जाता है। साहित्य के ऐसे शब्द-चित्रो का महत्त्व किसी भी वस्तु-चित्र से अधिक होता है। साधारणतः हम हनुमान जी के विकट रूप-विन्यास से उतना प्रभावित नहीं होते, जितना उनके इस शब्द-चित्र से—

लाल देह लाली लसे उर धर लाल लँगूर
वज्र देह दानव दलन जै जै जै कपि सूर !

यही कारण है, कि साहित्य के चित्रण सनातन और प्रभावशाली होते हैं। प्रसन्नता की बात है, कि आज युग ने नारी की महानता और उसकी लघुता की रूपरेखा को उचित रूप से समझ लिया है, और उसको अपनी समानता-पूर्ण सहृदयता देने को प्रस्तुत है।

आज समाज मे, साहित्य मे, राजनीति मे—सभी जगह उसका स्वागत और सम्मान हो रहा है। हिन्दी काव्य की सहानुभूति अब उसे नये रूप मे मिलने लगी है। अब वह केवल मृत्तिका की पुतली नहीं, वरन् 'देवि ! माँ ! सहचरि ! प्राण !' के रूपों मे सस्थापित है। आज केवल वह शृङ्गार का आधार नही, वरन् उसकी अन्य विशेषताओं की भी मान्यता बढ़ने लगी है।

प्राचीन युग मे तो किसी नारी को लेकर काव्य-ग्रन्थ तक लिखना बुरा माना जाता था, किन्तु अब वह परिस्थिति नही रही; समय बदल

गया है। हाँ, इतना तो मानना ही पड़ता है कि सब युगो मे कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य रहेंगे, जो अपनी पार्थिवता से इतने सीमित होंगे कि उनके सामने भावना, आदर्श तथा अध्यात्म की बात करना भैंस के आगे बीन बजाना है। फिर भी कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं, जो छाया ऐसी वस्तु को भी नारीत्व का औचित्य देना चाहते हैं—

कहो कौन हो दमयन्ती-सी
तुम तरु के नीचे सोई?
हाय तुम्हें भी त्याग गया क्या
अलि! नल-सा निष्ठुर कोई?

यहाँ कवि छाया की ओट में नल द्वारा दमयन्ती पर की गई निर्ममता को बड़ी समवेदना से छूना चाहता है। मानो आज का युग नारी के सब अपमानो का बदला चुका लेने के लिए प्रस्तुत हो गया है!

समाजवाद और साहित्य

आज मानव की नवीन वैज्ञानिक खोजो ने उसके जीवन में बहुत से नये अभाव पैदा कर दिये हैं। संसार की सनातन परिवर्तनशीलता मे इसने एक तीव्रता ला दी है। चारों ओर विज्ञान की धूमधाम है, इसके बल पर मनुष्य ने जल, थल, और गगन मे अपना अधिकार स्थापित कर लिया है। ससार की सारी आकुलतामयी उथल-पुथल का कारण आधुनिक विज्ञान ही है। विज्ञान की उन्नति ने विश्व की भौगोलिक-सीमाओं को एक प्रकार से समाप्त-सा कर दिया है। ससार के एक कोने का छोटे से छोटा समाचार, क्षण-मात्र मे दूसरे कोने तक पहुँच जाता है। मनुष्य के कार्य तथा विचार शीघ्र ही अपने प्रचार का साधन पा लेते हैं। यही कारण है कि रूस-जर्मन युद्ध की भयानकता से सारा संसार भयभीत है, और परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उसमे सम्मिलित-सा प्रतीत होता है। आज भूमडल के किसी भी कोने मे ऐसा व्यक्ति तलाश लेना सहज नही है, जो हिटलर की अमानुषी बर्बरता, तथा जापान की निर्ममता से क्षुब्ध और त्रस्त नहीं है। इसी प्रकार गाँधी, लेनिन तथा रवीन्द्र भी अपने-अपने देशों की सीमित परिधि को पार कर संसार के सामने उपस्थित हो चुके हैं। आशय यह कि ससार की छोटी से छोटी घटना भी सब की होकर गुजरती है, तब फिर बड़ी घटनाओं का कहना ही क्या है।

इस वैज्ञानिक बहुलता का परिणाम यह हुआ है कि मनुष्य की

बुद्धि और ज्ञान ने उसके सहज विश्वास को बिदा दे दिया है। समाज-शास्त्र, काम-शास्त्र, तथा मनोविज्ञान-शास्त्र के नवीन अनुसधानो ने, पिछले विश्वासों (रूढियों) पर एक आघात करके, प्राचीन परपरा तथा प्रणालियो को जीवन से बहुत दूर फेंक दिया है। तर्क और विज्ञान की बौद्धिक कसौटी पर खरा न उतरने के कारण, पुरानी आस्था और विश्वास आज अपने आप लड़खड़ा गये हैं। समाज-नीति, और अर्थशास्त्र आज ससार की सब से बड़ी समस्याएँ हैं। वास्तव मे ससार की आर्थिक स्थिति बहुत ही भयानक है। एक तरफ लाखों आदमी भूख की ज्वाला से जल-जल कर छटपटा रहे हैं, दूसरी ओर अकर्मण्यता की गोद में अनेकों व्यक्ति बहु-भोजन की शिकायत का सम्मान उठा रहे हैं। ससार की इस भीषण विषमता ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को घेर रखा है, क्योंकि विज्ञान की सुविधाओं के साथ ही साथ मनुष्य की शारीरिक, तथा मानसिक सुविधाओं की संभावना भी बहुत आगे बढ गयी है। अर्थोत्पादन के अनेक सुन्दर साधन उसके सामने हैं, किन्तु उसके सामूहिक विभाजन की कोई व्यवस्था नही है। सभ्यता के इस विकास-काल में भी मनुष्य अपनी आदिम पाशविक-प्रवृत्तियों को छोड़ नही सका, किन्तु उनको एक नये ढग से उपस्थित करने की कला वह अवश्य जान गया है। आज भी नर-सहारी-भीषण युद्ध होते हैं, किन्तु उनकी उद्भावना अशाति के लिये नहीं, विश्व शाति के लिये कही जाती है। इसी प्रकार कार्यों मे नहीं, कथनों मे केवल परिवर्तन हो पाया है। शासन-सत्ता मे आज का शिक्षित समाज व्यक्तिगत शासन से अनेक बार तोबा कर चुका है, किन्तु जन-सत्तात्मक सामूहिक शासन भी स्वप्न ही के समान है। प्रायः ससार भर

के सभी सभ्य कहे जाने वाले देश, सिद्धात से जन-सत्ता के हामी और अभ्यास मे स्वेच्छाचरिता के कामी हैं। फ्रास का नैपोलियन और आज का डिक्टेटर इस बात के प्रमाण मे पेश किये जा सकते हैं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे आज हार्दिक सहृदयता शिथिल और मानसिक बौद्धिकता प्रवल है। शायद इसी कारण शब्दो मे सुन्दर सिद्धान्तो का उपयोग होता है, जीवन मे नही। साधारण और सहज सास्कृतिक व्यक्ति की चेतना को इस प्रकार की जीवन-जटिलता से जो चिन्ता होती है, वह समझ के बाहर की बात नही है। उसका मस्तिष्क आधुनिकता की इस कृत्रिम स्थिति मे अनायास ही निराश और क्षुब्ध हो उठता है। विचारशील भारतीय-हृदय अपनी सभ्यता के महान उत्तराधिकार की शून्यता मे स्वयं समाहित होता हुआ स्तब्ध रह जाता है।

साहित्य मे भी आज इन्ही समस्याओ का सम्मेलन हो रहा है; जीवन के अन्य क्षेत्रों की भाँति उसमे भी विश्वास का बल बाकी नहीं रहा, क्योकि आधुनिक बुद्धिवादी युग उसमे मनोवैज्ञानिक सत्य की सम्भावना नहीं पाता। ठीक भी है, साहित्य तो जीवन का दर्पण, और दीपक दोनों है, फिर जीवन की अनास्था उसमे अपना स्थान कैसे बना सकती है? यों भी सस्कार-गत विश्वास जीवन के बहुत ही सरल प्रश्नों का उत्तर दे सकता है, इसके आगे उसकी गति नहीं। बुराई की हार और भलाई की जीत, पुराने विश्वास का एक उदाहरण है, किंतु जीवन मे सब दिन ऐसा होता नही। उस युग की भाँति राम के द्वारा रावण की पराजय आज निश्चित नही मानी जा सकती, क्योंकि इससे हमारी बुद्धि को तुष्टि नहीं मिलती है। आज भाग्य का अर्थ माथे पर

लिखी लकीरें नहीं, वरन् बौद्धिक सघर्ष का सुफल होता है। 'नर के कर आपन बध बाँची' के बाद हँसनेवाले रावण के उस कार्य पर आज का साधारण-से-साधारण व्यक्ति भी हँसना चाहेगा। इस प्रकार साहित्य मे प्राचीन और नवीन शैली, तथा आदर्शों मे आज एक सतत सघर्ष चल रहा है, जिसकी झलक सामयिक साहित्य मे स्पष्टतया मिल सकती है। लेखकों, तथा पाठकों की रुचि बदल रही है, साहित्य मे नैतिक, तथा चारित्रिक आदर्शवाद की अब उतनी माँग नही है, जितनी यथार्थ-चित्रण, या यथार्थवाद की।

पिछले रूस और वर्तमान भारत की परिस्थितियों मे बहुत कुछ साम्य है, सम्भवतः इसलिये आज का साहित्यिक रूसी विचार-परम्परा से प्रेरणा लेने को उत्सुक दीख पड़ता है। चीन के महान ऋषि कन्फ्यूशस ने एक बार कहा था—"साहित्य का भविष्य करुणा के साथ है।" इसमे सन्देह नही कि साहित्य वेदना, और करुणा की मनोवृत्तियों से अधिक प्रभावशाली बन पाता है। भारत आज दरिद्र और दुखी है। प्रत्येक देशवासी अपनी इस करुण-दशा का किसी-न-किसी प्रकार अवश्य अनुभव करता है, और ऐसी आत्म-अनुभूति का युग साहित्य के सुन्दर, और समुचित विकास का सबसे उपयुक्त समय होता है। यह एक अनुभूत मनोवैज्ञानिक सत्य है। जारशाही का रूस इस बात का प्रबल प्रमाण है। उस समय रूस की पीडित आत्मा ने तात्कालिक कलाकारों के रूप का जो कायाकल्प किया है, वह ससार के सामने है। इतना सब होते हुए भी हमे यह स्मरण रखना होगा कि राजनीतिक विचार-धारा और साहित्यिक विचार-धारा जीवन के लिये नितान्त आवश्यक होते हुए भी

एक नही हैं। भारतीय साहित्य को ऐसी साहित्यिक विचार-धारा ही प्राणप्रद हो सकती है, किन्तु साहित्य में रूस की राजनीतिक विचार-धारा का समावेश शायद उतना सुखकर न हो सके। यह ठीक है कि हमारा जीवन और हमारी सामाजिक परिस्थिति हमारे राजनीतिक प्रश्नो से अलग नही है, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नही है कि दोनो का क्षेत्र और सीमा भी एक हैं। जीवन के लिये अन्न तथा जल दोनो की अतीव आवश्यकता है, परन्तु हैं वे दो भिन्न पदार्थ। इसी प्रकार साहित्य और राजनीति भी। साहित्य का आधार सम्पूर्ण जीवन है। जीवन के सुख-दुःख का विवेचन साहित्य का व्यास क्षेत्र है, उसमे मनुष्य की आन्तरिक-प्रेरणाओ की सत्यता, और बाह्य वस्तुस्थिति की दुरूहता का चित्रण रहता है। साहित्य जीवन के नियमो और वस्तु-स्थिति के भौतिक तत्त्वो की उपेक्षा नही करता, किन्तु वह मनुष्य के अन्तर-जगत् की भी चेतना रखता है। साहित्य, सामाजिकता के साथ साहित्यकार के व्यक्तित्व का आग्रह भी अपनाता है, क्योंकि व्यक्ति के अनुभूत सिद्धान्तों के बिना उसका सृजन सार्थक नही हो सकता। वह मानव के हृदय तथा मस्तिष्क दोनों की वाणी है। राजनीति मे व्यक्ति का कोई मूल्य नही रहता, उसके प्राणो का स्पन्दन, स्वभावतः सामूहिक चेतना के शरीर मे ही सम्भव है। उसमे केवल मस्तिष्क का महत्त्व है, हृदय का नहीं। यही राजनीति, साहित्य की अपेक्षा सीमिति हो जाती है।

आये दिन भारतीय-साहित्य मे मार्क्स के नाम पर बौद्धिकता का अधिकाधिक समावेश होता जा रहा है, जो साहित्य के लिये शुभ नहीं

जान पडता । मार्क्स का प्रत्यक्ष जड़वादी समाजवाद, राजनीति की सुन्दर व्यवस्था का एक बहुत ही उपयोगी और सुन्दर दर्शन है, किन्तु जीवन के सभी क्षेत्रों मे उसे सीधा स्वीकार कर लेने से कल्याण की सम्भावना निश्चय ही शिथिल पड जावेगी। सिरदर्द की कितनी ही उपयोगी, और अनुभूत दवा, पेट के दर्द मे अपनी सफलता नही दिखा सकती। मार्क्स ने अपना दर्शन 'हीगल' के दर्शन-तत्त्वों के विरोध मे खडा किया था। हीगल जहाँ ब्रह्म को अन्तिम सत्य मानता है, वहाँ मार्क्स केवल जडवाद की सत्ता स्वीकार करता है। मार्क्स ने चैतन्य को छोड़कर केवल जडत्व को ही सत्य माना है। दोनो विचारक सघर्ष को सत्य मानते हैं, और उसी को सृष्टि का कारण भी, किन्तु हीगल की भाँति मार्क्स उसमे चैतन्य को स्वीकार नही करता। हीगल सघर्ष के भीतरी तथा बाहरी दोनों पहलुओं पर आस्था रखता है, किन्तु मार्क्स केवल उसकी बाह्य सत्ता को ही स्वीकृति देता है। किसी विचार तथा भावना के प्रसार के दो साधन सम्भव हैं—एक तो हार्दिक परिवर्तन, दूसरा बल-प्रयोग। वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्था मे क्रान्ति करने के लिये भी इन्ही दो साधनों मे से एक को अपनाना होगा। भीतरी या स्थायी परिवर्तन के लिए समय तथा साधना की आवश्यकता होती है, और बाहरी या अस्थायी परिवर्तन के लिए बर्बरता की। साहित्य भीतरी परिवर्तन का आदर्श सामने रखता है, और राजनीति बाहरी परिवर्तन का, यही दोनों सीमा-रेखाओं का महान अन्तर है। बा[illegible]ी, [illegible] की परिवर्तन की क्राति ने ही प्रतिक्रिया के रूप मे, समाजवाद के माध्[illegible] सुसंस्कृत ससार को डिक्टेटर (व्यक्तिसत्ता का चरम-रूप) दिया है, इ[illegible]

नहीं है। मार्क्स को इतना समय नहीं मिला कि वह अपने दर्शन को जीवन की व्यावहारिक कसौटी मे कसकर देख सके, अतः वह मानव-मन तथा मानव-चेतना की एकदम उपेक्षा कर गया। समाज के सामने व्यक्ति की इकाई का महत्त्व उसने नही समझा। विचार-भूमि (बुद्धि) से इस चेतना की उपेक्षा ने उसे भाव-भूमि (हृदय) मे और अधिकार-पूर्ण स्थान दे दिया, और फलस्वरूप फैसिस्टवाद ससार के सामने है। यदि हम उसे समाजवाद की भोडी सन्तान कहे तो अनुचित नही।

हाँ, तो मार्क्सवाद हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता नही समझता, क्योंकि कल्पना, करुणा, भाव, भावना जैसी मन की कोमल वृत्तियों की उसके पास गुजायश नही है। मार्क्स एक बौद्धिक दार्शनिक है, भावुक साहित्यिक नही। उसका विश्वास बल-प्रयोग मे है, भावोन्मेष मे नहीं। इसका कारण भी प्रत्यक्ष है। मार्क्सवाद वस्तु का बाहरी स्वरूप देखता है, उसके आन्तरिक स्वरूप से उसका कोई सम्बन्ध नही है। मतलब यह कि भीतर-बाहर का समन्वय, मार्क्सवाद मे, सिद्धान्त से ही गायब है।

नहीं कर सकता, किन्तु साहित्य के लिये यह भाव-धारा एकागी और अनुपयुक्त है। भारतीय साहित्य मे, उसकी समन्वयात्मक संस्कृति की गोद मे, मार्क्सवाद का शिशु ज्यो का त्यों खेलता-कूदता लालित-पालित हो सकेगा या नहीं, यह अवश्य विचारणीय है। साहित्य मे समाजवादी दृष्टिकोण का समावेश अपेक्षित है, किन्तु उसमे व्यक्ति-सत्ता और हृदय की आस्था का आदर भी आवश्यक है।

राजनैतिक महापुरुष के दर्शन के विवेचन के बाद, रूस के महान कलाकार टालस्टाय के साहित्य संबधी-विचारों का उल्लेख, उद्देश्य की स्पष्टता मे सहायक होगा, और उससे निश्चय ही हमारे साहित्य की श्री-वृद्धि का साधन भी सम्भावनीय है। "साहित्य तथा कला, मानव समाज की एकता का साधन है। उसका उद्देश्य है जन-सामान्य को एक भावना से (बल-प्रयोग से नहीं) उन्नति के पथ पर अबाध्य रूप से एकत्र कर देना, ताकि व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण हो।" वास्तव में साहित्य का उद्देश्य उन्नत वातावरण पैदा करके जीवन की विविधता-मयी विषमता मे सामञ्जस्य स्थापित करना है, फिर राजनीति का आक्र-मणात्मक सिद्धात, समाजवादी साहित्य मे शाति की साँस कैसे ले सकेगा? अपनी जिन त्रुटियों को भयानक त्रुटियाँ समझकर, स्वय रूसी-साहित्य, आज से वर्षों पहले, रोग के कीटाणु की भाँति, अपने शरीर से निकाल कर फेक चुका है, वह दुर्बलता, जीवन को एकागी देखने की वह दृष्टि, जड़त्व की वह ममता, हमारे साहित्य का गौरव कैसे बढा सकेगी? हाँ, राजनीति मे उसका स्वागत करना प्रत्येक व्यक्ति की समझदारी की शपथ है। "साहित्य तो वह है जो हमारे चरित्र और व्यवहार को सुसंस्कृत

करे। हमारे अदर न्याय, सहानुभूति, और आत्म-दर्शन की भावना पैदा करे। हम मे आत्मनिर्भरता, विवेक-बुद्धि, और सयम के भाव भरे। क्रूरता, अन्याय, नीचता, और अश्लीलता की ओर से हमारे मन मे नफरत पैदा करे।" साहित्य यदि जीवन की सारी विविधता के साथ उसे सुमार्ग पर स्थापित न कर सका तो वह साहित्य नही, क्योंकि साहित्य न विज्ञान है, न शब्द-चयन, वह प्रवचन, और सुभाषित भी नही। पवित्र, तथा उन्नत विचार ही साहित्य के प्राण हैं। वही रचना आदरणीय है, जिससे—सुरसरि सम सब कॅह हित होई।

'मानस' की सीता

जिस समय तुलसीदास ने रामचरितमानस का प्रारम्भ किया, उस समय देश मे अनेक भॉति की विरोधिनी सस्कृतियाँ, साधनाएँ, जातियाँ तथा विचार-पद्धतियाँ प्रचलित थीं। उस समय का काव्य समन्वय की सप्राणता मे ही सफल हो सकता था और तुलसीदास ने उसी की चेष्टा की। वे स्वय समाज की अनेक विपमताएँ भोग चुके थे। अस्तु, मगलमय काव्य-प्राण-पोपणी शक्ति तथा साधना को उन्होंने पूर्णरूप से ग्रहण कर लिया था। उनका सारा काव्य सात्विक समन्वय की एक व्यापक चेष्टा है।

चरित्र-चित्रण मे तुलसीदास अद्वितीय हैं। उनके सभी पात्र स्थूल जीवन से उठते हैं, वे केवल कल्पना के कठपुतले नहीं होते। उनमे यदि कभी सूक्ष्मता तथा अलौकिकता की स्थापना भी की जाती है, तो वह सहज और उपयुक्त तथा स्वाभाविक होती है। उनका प्रत्येक पात्र अपने जीवन के साथ एक विशेप उद्देश्य रखता है, और मानव-जीवन के उसी अश का पूर्ण विकास उस पात्र की सत्ता का साधन होता है। वे विचारो से आदर्शवादी थे। यही सिद्धान्त उनके काव्य का आधार-विन्दु है। मानव-प्रकृति का उनको वहुत ज्ञान था, यहाँ तक कि इसकी अधिकता के कारण उनको विश्व प्रकृति की अपने काव्य मे एक प्रकार से उपेक्षा तक करनी पडी। इस कवि के पात्र मनोविकारों के सामयिक प्रतिरूप मात्र नहीं है, वरन् वे जीवनव्यापी रूप का प्रति-

निधित्व करते हैं। पात्रो का विवेचन जीवन की जितनी ही अधिक भिन्न परिस्थितियों में होता है, उनका चरित्र उतना ही अधिक निखरता है। तुलसीदास पात्रो के लिए परिस्थितियों का निर्माण कर लेते हैं। इसी से उनके सभी पात्र स्पष्ट तथा स्वाभाविक हैं। इतना सब होते हुए भी उन्होने अपने पूरे काव्य मे लोक-नीति तथा मर्यादा का विशेष ध्यान रखा है और अपनी परम्परा के अनुसार वर्णाश्रम धर्म की स्थपना का पूर्ण प्रयत्न किया है।

समाज की इस व्यवस्था मे स्त्रियों का क्या स्थान था और तुलसी-दास ने उनका कैसा चित्रण किया है, यह कुछ विवाद का विषय बन रहा है। इसी पर हम विचार करेंगे। स्त्री पात्रो मे सीता ही सर्वश्रेष्ठ पात्र हैं। जितना जीवन उनका मानस मे आया है किसी अन्य स्त्री पात्र का नहीं। अस्तु, उनका माध्यम इस अध्ययन के अधिक उपयुक्त है। इसमे इस बात के सन्देह की गुजाइश नही है कि कवि उन्हें जगत-जननी के रूप मे देखता है। किंतु गोस्वामी जी तो अपने राम या ईश्वर तक को भी लोकमत के भीतर रखते हैं। इसलिए यदि सीता में कही उनको कोई बात खटकेगी तो वह तुरत लिख देंगे। स्वयं राम पर एक व्यंग देखिये :

> जेहि अघ बध्यो व्याध अरु बालो।
> खरदूषण त्रिशरा बलशाली॥
> सोइ करतूत विभीषण केरी।
> सपनेहु सो न राम हिय हेरी॥

जो हो, उन पर स्त्रियो की निंदा का आरोप किया जाता है.

मेरी समझ मे यह सर्वथा अनुचित है। यदि कहीं कवि ने स्त्रियों की निन्दा भी कर दी है तो वह प्रसग-विशेष की बात है, साधारणतया उनका स्त्रियो के प्रति बडा सम्मान है। समय-समय पर कवि ने स्त्रियों को पुरुषो की बराबरी का स्थान तो दिया ही है, कभी-कभी उनसे ऊँचा भी उठा दिया है—

राम भगति रत नर अरु नारी।
सकल परम गति के अधिकारी॥

बराबरी के लिए यह पर्याप्त हैं, किन्तु उसके आगे चल कर उन्होंने यहाँ तक कहा है कि—

बिन श्रम नारि परमगति लहई।

यह स्त्रियो की श्रेष्ठता का सकेत है।

यदि उन्होंने स्त्रियों को—

एकै धर्म एक व्रत नेमा।
काय वचन मन पतिपद प्रेमा॥

कह कर पातिव्रत पर जोर दिया है, तो पुरुषों को भी उन्होंने कहा है कि—

एकनारि-व्रत-रत सब कारी।
ते मन क्रम वच पति हितकारी॥

तुलसीदास स्त्री को पुरुष की समभागिनी मानते हैं और इस बात की स्थापना वे स्वय अपने आदर्श भगवान राम से कराते हैं। राम ने बालि को डाँटते हुए कहा है कि—

मूढ तोहि अतिसय अभिमाना।
नारि सिखावन करेसि न काना॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने स्त्रियों की मान्यता अधिक रखी है। जिस अप-राध के लिए, यानी कुदृष्टि के लिए, स्वय राम ने सर्पणखा को केवल नाक कान काट कर छोड़ दिया, उसी अपराध पर बालि का वध किया और कहा है कि—

इन्हे कुदृष्टि विलोकइ जोई।
ताहि बधे कुछ पाप न होई॥

इसी प्रकार और भी—

कामी पुनि कि रहइ अकलंका।
शुभगति पाव कि पर-त्रिय-गामी॥

मानस में स्त्रियों के चरित्र पुरुषों से अधिक उज्ज्वल हुए हैं। सीता, सुनयना, कौशल्या, सुमित्रा, अनसूया, सुलोचना, तथा तारा आदि इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। राक्षसी मन्दोदरी भी इसकी पुष्टि में प्राणों का सचार करती है। यहाँ सीता को ही हमें लेना है। सीता भी तो एक स्त्री हैं, किन्तु वे ऐसी नारी हैं जिनके विषय मे एक ऋषि-पत्नी यह कहती है कि—

सुनु सीता तव नाम, सुमिर नारि पतिव्रत करहि।
तोहिं प्रान प्रिय राम, कहेउ कथा ससार हित॥

भला जिस कवि ने सीता ऐसी सती का निर्माण किया हो वह स्त्री-निन्दा का आरोप कैसे उठा सकता है? सीता के पूर्ण चरित्र का अध्ययन करने के बाद हम गोस्वामीजी की स्त्रियों के प्रति धारणा का उचित अनुमान लगा सकते हैं।

मानस मे प्रथम बार सीता के दर्शन हमें इस प्रकार होते हैं। जब

समय जानि गुरु आयसु पाई ।
लेन प्रसून चले दोऊ भाई ॥

तब वही बगीचे मे—

तेहि अवसर सीता तँह आई ।
गिरिजा पूजन जननि पठाई ॥

इससे पता चलता है कि तुलसीदास इस बात को बुरा नही मानते कि राजकुमारियाँ तक बाहर बगीचे मे जावे । इधर पूजा की तैयारी और उधर एक सखी का सीता से अलग होकर बगीचे मे राम का दर्शन ।

सखी की भावुकता तथा स्नेह-शीलता का परिचय कवि ने बड़े ही सारगर्भित शब्दों मे दिया है—

पुलकगात जल नैन ।

जब उसने राम के रूप का वर्णन किया तब सब सखियाँ प्रसन्न हुईं, क्योंकि वे सब सीता की उत्सुकता समझती थीं । यथा—

सुनि हरषीं सब सखी सयानी ।
सिय हिय अति उत्कंठा जानी ॥

इतना ही कह कर तुलसीदास को सन्तोष नहीं हुआ । वे स्त्री-स्वभाव का सीता के माध्यम से एक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण उपस्थित करना चाहते हैं । इसी कारण वे आगे कहते हैं कि—

तासु बचन अति सियहिं सुहाने ।
दरस लागि लोचन ललचाने ॥

फिर क्या था—

चकित विलोकति सकल दिसि, जनु शिशु मृगी सभीति ।

वे राम की खोज मे चली। अचानक किसी राजकुमार की सौन्दर्य-श्रुति से सीता का यह आकर्षण तुलसी के पास सहज ही क्षम्य है। कवि इससे भी आगे पहुँच जाता है और कह उठता है कि—

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता।
कहँ गए नृप किशोर मनचीता॥

सीता की यह चिन्ता सखियो से छिपी नही रही, वे सीता की स्नेह-जन्य सरसता की बात तुरन्त समझ गयीं, और—

लता ओट तब सखिन लखाये।

सीता जी ने राम को जब देखा तब उनकी क्या दशा हुई, इसका वर्णन कवि बड़े ही सकेतमय शब्दों मे करता है—

थके नयन रघुपति छवि देखी।
पलकनहू परिहरी निमेषी॥
अधिक सनेह विवस भइ भोरी।
सरद ससिहि जनु चितव चकोरी॥
लोचन मग रामहिं उन आनी।
दीन्हे पलक कपाट सयानी॥

तुलसीदास इस आसक्ति की आस्था को और किस तरह कहते ! उन्होने सीता की मनोवृत्ति का पूर्ण विवेचन अपनी व्यञ्जना से किया है। सखियों से भी सीता का मज़ाक उड़वाया है—

जब सिय सखिन प्रेम बस जानी।
कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी॥

जिस स्नेह की अवस्था पर सखियों को सकोच हो वह सीता के लिए

अवश्य ही अधिक था। यही कारण था कि

सकुच सीय तब नयन उघारे।

इस स्थिति से सीता की सभी सखियाँ घबरा सी गयी थीं। उन लोगों ने तरह-तरह के बहाने बताकर घर जाने की अनुकूल बात चलाई। परिस्थिति के अनुसार उन्होंने सीता को सुनाना प्रारम्भ किया—

परबस सखिन लखी जब सीता।
भयउ गहरु सब कहहिं सभीता॥

सखियों के व्यंग तथा माता के भय से सीता जी घर की तरफ चलीं, किन्तु उनका मन तो राम के साथ था। उन्होंने अपना हृदय समर्पण कर दिया था। राम ने उसकी स्वीकृति भी दे दी थी।

जानि कठिन शिव चाप बिसूरति।
चली राखि उर श्यामल मूरति॥

अब घर जाने की बात फिर भूल गयी। गौरी के मन्दिर मे फिर जाने की आवश्यकता आ गयी, क्योंकि अब तक की पूजा तो बिना किसी मनोकामना के थी, किन्तु अब तो सीता को भी कुछ चाहिए और उस चाह में इतनी मधुरता है कि सीता जी उसे स्पष्ट शब्दो मे बता नहीं सकती, वरन् कहती हैं कि—

मोर मनोरथ जानहु नीके।
बसहु सदा उर पुर सब ही के॥

इतना कह कर सीता फिर विनय और प्रेम के भावों में तन्मय हो जाती हैं। गौरी भी उनके मन की सब बात समझ गयीं और माँग के अनुसार सांकेतिक रूप से आशीर्वाद भी देती हैं—

सुनु सिय सत्य असीष हमारी ।
पूजिहि मन कामना तुम्हारी ॥

यह सुनते ही सीता का चित्त बहुत पुलकित हो उठा । अपने वाञ्छित फल की प्राप्ति की आशा जग उठी । इसी से तो—

सिय हिय हरष न जाय कहि ।

इस हर्ष और प्रेम-भावना के साथ सीता अपने राजमहल को वापस चली जाती हैं । तुलसीदास ने बगीचे की सारी सरसता का कितना सुन्दर वर्णन किया है ! इसका कारण केवल यही है कि उन्होंने सीता के माध्यम से स्त्री-जीवन की व्यापकता तथा परिस्थितियों के इसी प्रकार प्रेम, भय, करुणा तथा क्रोध की सभी अवस्थाओं का चित्रण किया है ।

इस बगीचे के रोमाञ्च के बाद सीता की स्नेह-भरी इस अल्हड़ भावुकता का पूर्ण विकास राम के धनुष तोड़ने पर हो जाता है । राम के धनुष तोड़ने के पहले सीता की क्या दशा होती है, अब उसको देखिये । राम के यज्ञशाला में आने पर उन्हें सब अपनी-अपनी रुचि तथा दृष्टिकोण के अनुसार देखते हैं, जिसके लिए कवि ने यह कह कर छोड़ दिया है कि —

जाकी रही भावना जैसी ।
प्रभु मूरति देखी तिन तैसी ॥

किन्तु तुलसीदास यहाँ भी सीता की स्नेहशीलता का स्पष्टीकरण किये बिना नहीं रह सकते, यथा—

रामहिं चितव भाव जेहि सीया ।
सो सनेह सुख नहिं कथनीया ॥

पता नही कि कवि ने उस स्नेह की, जो अकथनीय है, चर्चा ही क्यों की ? उसी सीता को जब कवि रगभूमि मे आते देखता है तब उसकी सारी भावुकता तथा सरसता उसकी मर्यादा की भावना मे छिप सी जाती है, और वह अपनी भक्त-भावना से इस प्रकार वर्णन करता है—

सोह नवल तनु सुन्दर सारी ।
जगत जननि अतुलित छवि भारी ॥

इसका सम्भवतः कारण यह है कि यहाँ राम-सीता के सम्बन्ध का प्रदर्शन नही है, वरन् स्त्रीत्व के प्रति कवि की अपनी भावना है। सार्वजनिकता की सौन्दर्यदृष्टि को अनुभूत करके वही कवि शीघ्र लिखता है—

रगभूमि जब सिय पगु धारी ।
देखि रूप मोहे नर नारी ॥

सीता को देखकर तो सब की यह दशा हुई और सीता की मनःस्थिति कैसी थी, इसका बहुत ही सुन्दर निदर्शन कवि ने किया है—

गुरुजन लाज समाज बड़, देखि सीय सकुचानि ।
लगी विलोकन सखिन तन, रघुवीरहि उर आनि ॥

सौन्दर्यबोध मे अभ्यस्त आँखे जैसे राम की ओर बगीचे की तरह पुनः बरबस उठी जाती हों, किन्तु सीता ने सकुच कर सँभाला। स्नेह-परिपाक का कितना सहज तथा स्वाभाविक चित्रण है ! इसके बाद जब राम धनुष तोड़ने को जाते हैं तब सीता के हृदय मे कैसी भावनाएँ उठती हैं। उन्होने देखा है कि अभी तक बड़े-बड़े वीर तथा योद्धा उसे नहीं उठा सके, इस कारण उन्हें सन्देह और प्रतीति के किस झूले में झूलना पड़ता है—

तब रामहि बिलोकि वैदेही ।
सभय हृदय विनवत जेहि तेही ॥
मन ही मन मनाथ अकुलानी ।
होहु प्रसन्न महेश भवानी ॥

इसके उपरात तो आकाक्षा की आकुलता की सीमा को भी वे पार कर जाती हैं—

देखि-देखि रघुबीर तन, सुर मनाव धरि धीर ।
भरे विलोचन प्रेम जल, पुलकावली शरीर ॥

वास्तव मे रोमाच मे वह सुख तथा दुःख नही जो उसकी प्रत्याशा की असफलता की कल्पना तथा सन्देह से होता है । अपनी इस शिथि-लता मे वे समाज, ससार तथा अपने पिता को मन ही मन खूब कोसती हैं । उद्विग्नता बहुत बढ जाती है । इसके पश्चात् तो ऐसा प्रतीत होता है जैसे सीता उसी समाज मे कुछ बोल उठेंगी, मगर उन्हे कवि इस प्रकार रोक देता है कि—

गिरा अलिनि मुख पकज रोकी ।
प्रगट न लाज निशा अवलोकी ॥

फिर भी वे मन ही मन सत्य के सिद्धान्त की दुहाई देने लगती हैं—

जेहि कर जेहि पर सत्य सनेहू ।
सो तेहिं मिले न कछु सन्देहू ॥

सीता की इस स्थिति को राम समझ रहे थे कि सीता की उत्सुकता कहाँ तक अपनी अभिव्यक्ति पाती है, परन्तु जब उन्होंने यह समझा कि—

तृषित बारि बिनु जो तनु त्यागा ।
मुए करै का सुधा तड़ागा ॥

राम की इस विचारधारा से पाठक सहज ही मे सीता की दशा का अनुमान लगा सकते हैं। इसीलिए शायद राम ने भी शीघ्रता की। धनुष टूट जाने पर सीता के सुख की कल्पना उतनी कठिन नही, क्योंकि तब तो 'सिय हिय सुख' इस प्रकार हुआ—

जनु चातकी पाय जल स्वाती।

अब क्या था, सीता के मन की हुई और वे राम की ओर जयमाल लेकर चली—

तन सकोच मन परम उछाहू ।
गूढ प्रेम लखि परै न काहू ॥

इस गूढ प्रेम को और चाहे कोई न जान सके, किन्तु तुलसीदास तो अवश्य जानते हैं, उनके वर्णन से तो यही पता चलता है। राम के पास जाकर सीता अपनी आशा-पूर्ति की साफल्य भावना से आत्मविस्मृत सी हो जाती हैं—

रहि जनु कुवरि चित्र अवरेषी।

तथा जयमाल तो—

प्रेम बिवस पहिराय न जाई।

बहुत कुछ कहने सुनने पर बड़े साहस के साथ—

सिय जयमाल राम उर मेली ।

बस यही सीता का प्रेम अपनी पूर्ण परिणति पर पहुँच जाता है। कवि ने उनके पूरे प्रेम प्रपंच का चित्रण बहुत ही सुन्दर और मनोवैज्ञानिक

ढग से किया है ।

सकोच, शील और स्नेह की समन्यवात्मक स्थिति मे सीता ने राम के गले मे जयमाल पहिना दी । उसके बाद कवि सीता का एक चित्र राम के साथ देता है—

सोहत सीय राम की जोरी ।
छवि शृगार मनहु इक ठोरी ॥

इसके उपरात भारतीय परम्परा के अनुसार आत्म-समर्पण के साफल्य के लिये सखियों ने सीता से राम के चरण स्पर्श के लिए कहा, किंतु कवि ने यहाँ सीता के माध्यम से इतना सुन्दर विनोद उपस्थित किया है कि देखते ही बनता है—

गौतम तिय की सुरति करि,
नहि परसति पद पानि ।

इसी घटना के बीच मे परशुराम जी आ जाते हैं । उनके आगमन से सीता का मन भी भयभीत होता है, क्योंकि अपने इस अभीष्ट मे थोड़ा भी विघ्न वे सह नही सकती । सब वातावरण शात हो जाने पर तथा बारात आ जाने पर पुनः सीता की उपस्थिति है ।

जानी सिय बरात पुर आई ।
कछु निज महिमा प्रगटि जनाई ॥
हृदय सुमिरि सब सिद्धि बुलाई ।
भूप पहुनई करन पठाई ॥

सीता का यह रूप जगदम्बा के स्वरूप का द्योतक है । पोषण का कार्य माँ का ही है । फिर सीता का वही वधू रूप—

आवत देखि बरातिन सीता।
रूप राशि सब भाँति पुनीता॥
सबहि मनहि मन कीन्ह प्रनामा।
देखि राम भये पूरन कामा॥

सीता और राम दोनों कलेवा को जाते हैं। रास्ते मे सीता बार-बार राम को देखती है—

पुनि-पुनि रामहिं चितइ सिय, सकुचति मन सकुचैन।
हरित मनोहर मीन छवि, प्रेम पियासे नैन॥

राम को बार-बार देखने से सीता को अपनी अतृप्ति के विषय में सकोच होता है, किंतु प्रेमी मन को सकोच कहाँ? बार-बार रूप की प्यासी आँखे उठ ही जाती हैं। सीता के साथ राम अवधपुरी मे आते हैं और राम-सीता का स्नेह-सम्बन्ध अपना चरम विकास पा जाता है।

कैकेयी की कुटिल नीति से राम को वन जाना पड़ता है और इस समाचार को सीता भी सुनती हैं।

समाचार तेहि समय सुनि, सीय उठी अकुलाय।

और इसी आकुलता मे सास के पास जाती हैं और वही बैठ कर उनका यह मानसिक भावना-चित्र बनता है—

चलन चहत वन जीवन नाथू।
केहि सुकृती सन होइहि साथू॥
की तनु प्रान कि केवल प्राना।
विधि करतब कछु जाय न जाना॥

इस मानसिक चिंतन में इस बात का आभास है कि बिना राम के

सीता का जीना सम्भव नहीं हो सकता। उधर सीता के विषय में सास की यह उक्ति है कि—

पलग पीठ तजि गोद हिंडोरा।
सिय न दीन पगु अवनि कठोरा॥
जिवन मूरि जिमि जुगवत रहेहूँ।
दीप बाति नहि टारन कहेहूँ॥
सोइ सिय चलन चहति बन साथा।
आयसु काह होइ रघुनाथा॥

राम स्वय सीता को वन के कष्टो का वर्णन करके डराना चाहते हैं। सीता की जो दशा है, देखिये—

सुनि मदु बचन मनोहर पिय के।
लोचन ललित भरे जल सिय के॥

इतना ही नही, वह सारे संकोच को तोड़कर इन शब्दो में फूट पड़ती है—

मै पुनि समुझि दीख मन माही।
प्रिय वियोग सम दुख जग नाहीं॥

इसलिए,

प्राण नाथ करुनायतन, सुन्दर सुखद सुजान।
तुम बिन रघुकुल-कुमुद-बिधु, सुरपुर नरक समान॥

जब सुरपुर की भी यह हालत है, तब अयोध्या की क्या बात!

सीता की दृढता इस समय बहुत ही गभीर हो जाती है और वे सब के सामने साफ कह देती हैं कि—

जँह लगि नाथ नेह अरु नाते ।
पिय बिनु तियहिं तरनि ते ताते ॥

सीता ने यहाँ पर व्यक्तिगत कारणो की पुष्टि एक जातीय सस्कार से की है । इससे उनकी तीव्र बुद्धि का पता चलता है—

जिय बिनु देह नदी बिनु बारी ।
तैसेहि नाथ पुरुष बिनु नारी ॥

अन्त मे सीता ने यहाँ तक कह दिया है कि—

राखिय अवध जो अवधि लगि, रहत जानिअहिं प्रान ।
दीनबन्धु सुन्दर सुखद, सील सनेह निधान ॥

इस दोहे की शब्द-ध्वनि स्वय एक प्रार्थना अपने मे छिपाये है । इसलिए ध्वन्यात्मक शैली से सीता ने राम को दीनबन्धु तथा सनेह-निधान कहा है । साथ ही समता न्याय का भी उल्लेख किया है—

मै सुकुमारि नाथ बन जोगू ।
तुमहि उचित तप मो कँह भोगू ॥

ऐसेहु बचन कठोर सुनि, जो न हृदय बिलगान ।
तौ प्रभु विषम वियोग दुख, सहिहैं पामर प्रान ॥

सीता की यह स्नेहशीलता और दृढता देखकर राम उन्हें साथ चलने की आज्ञा दे देते हैं । अन्त मे यही तय होता है कि राम सीता दोनो बन जायँ, किंतु एक बार फिर सीता की परीक्षा का समय आता है, जब कि राम—

पितु सँदेश सुनि कृपा निधाना ।
सियहि दीन्ह सिख कोटि विधाना ॥

सीता ने बहुत ही सुन्दर शब्दों मे अपने प्रश्नो के द्वारा राम को उत्तर दिया है—

प्रभु करुनामय परम विवेकी ।
तनु तजि छाँह रहति किमि छेकी ॥
प्रभा जाय कँह भानु बिहाई ।
कहँ चन्द्रिका चद्र तजि जाई ॥

रास्ते मे सीताजी गगाजी के पास पहुँचने पर उसकी पूजा करती हैं और कहती हैं कि—

पति देवर सँग कुशल बहोरी ।
आइ करौ जेहि पूजा तोरी ॥

गगा का आशीर्वाद पाकर फिर वे लोग आगे बढते हैं। सीता चलने से जल्दी थक जाती हैं, इस कारण राम उनको आराम देने के लिए बिना अपनी इच्छा के भी शीतल छाँह पाकर ठहर जाते हैं। रास्ते मे चलते हुए जो लोग मिलते हैं उनमे से कुछ ग्राम-युवतियाँ भी हैं जो सीता से पूछती हैं कि—

कोटि मनोज लजावन हारे ।
सुमुखि कहहु को अहँहि तुम्हारे ॥

इसका उत्तर सीता जिस भावुकता तथा संकेत से देती हैं वह उनकी मर्यादा के सर्वथा उपयुक्त और सुन्दर साधन है—

सहज सुभाव सुभग तनु गोरे ।
नाम लखन लघु देवर मोरे ॥
बहुरि बदन बिधु अचल ढाँकी ।

पिय तन चितै भौंह कर बाँका ॥
खजन मजु तिरीछे नैननि ।
निज पति कहेउ तिनहि सिय सैननि ॥

कितना स्वाभाविक सकोच है! भारतीय ललनाओ की यह अपनी चीज़ है। इस प्रकार राम चित्रकूट पहुँच कर वही रहने लगते हैं। एक दिन अचानक सीता कनक-मृग को देख कर राम से कहती हैं—

सुनहु देव रघुवीर कृपाला ।
यहि मृग कर अति सुदर छाला ॥
सत्य सध प्रभु बध करि एही ।
आनहु चर्म कहा वैदेही ॥

इस जगह स्त्री-सुलभ उत्सुकता का प्रदर्शन सीता मे किया गया है, अन्यथा स्वर्ण-मृग की कल्पना ही असत्य सी लगती है। पर सीता को उस पर विश्वास हो गया तभी तो उन्होंने राम से उसे मारने को कहा। राम के मृग-वध करने के बाद सीता से भेंट नही होती, क्योकि इसी बीच मे रावण उन्हे हरण कर ले जाता है। इस हरण मे भी सीता की सहज-वृत्ति का पता चलता है कि उन्होंने लक्ष्मण की बात न मानकर एक अपरिचित यति का विश्वास कर लिया। इसी से शायद कहा भी है—

हा लछमन, तुम्हार नहिं दोषा ।
सो फल पायउँ कीन्हेउँ रोषा ॥

रावण के द्वारा हरी जाने के बाद सीता के व्यक्तित्व की तथा उनकी साधना की परीक्षा होती है। सीता अब समुद्र पार दूर देश मे

अकेली है। राम-लक्ष्मण का कुछ पता नही है। ऐसी स्थिति मे चरित्र की दृढ़ता तथा साधना की सत्यता का जो विकास सामने आता है वही सीता का आत्म-बल है। रावण सीता को अशोक वाटिका मे रखता है। उनकी सेवा के लिए कुछ राक्षसियों को नियुक्त कर देता है और समय-समय पर खुद सीता को डराने के लिए वहाँ आता है। किंतु सीता को राम पर इतनी आस्था तथा अपनी साधना पर इतना विश्वास है कि वह रावण को बहुत ही मुँह-तोड उत्तर देती हैं—

तृन धरि ओट कहत वैदेही।
सुमिरि अवध पति परम सनेही॥
सुनु दसमुख खद्योत प्रकासा।
कबहु कि नलिनी करहि विकासा॥
सठ सूने हरि आनेसि मोही।
अधम निलज्ज लाज नही तोही॥

इतना कहने पर रावण क्रोधित होकर अपनी तलवार दिखाकर डराने की चेष्टा करता है, पर सीता और भी अधिक कड़े शब्दो मे उससे बात करती हैं—

स्याम सरोज काम सम सुन्दर।
प्रभु भुज करिकर सम दसकन्धर॥
सो भुज कठ कि तव असि घोरा।
सुनु सठ अस प्रमान प्रन मोरा॥

सती स्त्री का ही यह साहस है कि वह इतने भयकर शत्रु को इन शब्दों से सम्बोधन कर सके। रावण के चले जाने के बाद सीता ने

त्रिजटा से अपनी व्यथा की कथा कही है जो बहुत ही करुण तथा मार्मिक है—

तजौं देह करु बेगि उपाई ।
दुसह बिरह अब नहि सहि जाई ॥
आनु काठ रचि चिता बनाई ।
मातु अनल तुम देहु लगाई ॥
सत्य करहु मम प्रीति सयानी ।
सुने को श्रवण शूल सम बानी ॥

सीता की यह दशा देखकर उसने बहुत कुछ समझाया और अपने घर चली गयी। तब सीता ने वियोग की जिस वास्तविकता का परिचय दिया है वह काव्यमय होते हुए भी सत्य है और एक विरहिणी के हृदय का भावचित्र है, जो व्यक्तिगत होते हुए भी सर्वसाधारण के अनुभव की चीज़ है ।

देखियत प्रकट गगन अगारा ।
अवनि न आवत एकौ तारा ॥
पावकमय ससि स्रवत न आगी ।
मानहु मोहि जानि हतभागी ॥
सुनहु विनय मम बिटप अशोका ।
सत्य नाम करु हरु मम शोका ॥
नूतन किसलय अनल समाना ।
देहु अगिन मम करहु निदाना ॥

यह वियोग की मानसिक तथा शारीरिक स्थिति का निदर्शन है

फिर भी इसमे सीता के अनुकूल ही गभीरता है। यह सब बाते वे अपने आप कहती या सोचती हैं, इसका करुण प्रभाव समाज और ससार पर नही पड़ता। त्रिजटा से केवल सीता का यही कहना था कि—

तजौ देह करु बेगि उपाई।
दुसह विरह अब नहिं सहि जाई॥

सीता ने सदैव देश, काल तथा पात्र के विचार से अपनी स्थिति का स्पष्टीकरण किया है, यही उनके चरित्र का आदर्श है।

सीता को इस वियोग-विह्वल अवस्था में देख कर हनुमान ने उनके सामने मुद्रिका डाल दी और सीता ने उसे पहिचान लिया। उस समय उनका मन हर्ष-विषाद की तरगो मे तरगित होने लगा।

जीति को सकै अजय रघुराई।
माया ते असि रची न जाई॥

कितना दृढ विश्वास है! राम की शक्तिपर यही उनके सतीत्व का उदाहरण है। कभी कोई सती अपने पति पर किसी आपत्ति की कल्पना भी नहीं कर सकती है। तभी हनुमान जी प्रकट हो जाते हैं और संशय के कारण सीता उनसे पूछती हैं—"नर बानरहि सग कहु कैसे?" इस प्रश्न से भी सीता की गम्भीरता का पता चलता है, अन्यथा अन्य स्त्री उस स्थिति मे सम्भवतः इतनी सतर्क न हो पाती। प्रियतम का समाचार उनकी वियोग ज्वाला को और भी अधिक प्रज्वलित कर देता है, किन्तु वे सयम के साथ केवल यह कहती हैं—

बूड़त विरह जलधि हनुमाना।
भयहु तात मो कहँ जलयाना॥

कोमल चित कृपालु रघुराई।
कपि केहि हेतु धरी निठुराई ॥
सहजवान सेवक सुखदायक ।
कबहुँ कि मोहि सुमिरत रघुनायक ॥
कबहुँ नयन मम सीतल ताता ।
होइहि निरखि स्याम मृदु गाता ॥

यह स्मरण सेवक और सेव्य भावो से ओत-प्रोत है। इसमे लौकिक विरह-वेदना का आभास नही मिलता, हाँ पवित्र प्राणो की आकुलता अवश्य है।

इस प्रकार हम सीता के चरित्र मे स्त्री के नाना रूपो का यथा समय दर्शन पाते हैं। यही उनके चरित्र की सार्थकता है। अपने हृदय की पूरी बात न कह सकने के कारण सीता की जो स्थिति हो गयी थी उसका आभास इस प्रकार है—

बचन न आव नयन भरि वारी ।
अहो नाथ मोहि निपट बिसारी ॥

कहीं भी राम के लिए स्वामी-सूचक शब्दो के अतिरिक्त अन्य प्रयोग नहीं है, जो सीत को स्वयं बहुत ऊँचे उठा देता है।

साहित्य का भूत वर्तमान और भविष्य

भूत से भागने की प्रवृत्ति हमारे साहित्य-समाज मे दिन पर दिन ज़ोर पकड़ती चली जाती है। भूतवादियो से स्वय मेरा कोई विशेष प्रेम नही है, और मैं सदा कालिदास की निम्न उक्ति का क़ायल रहा हूँ—

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः ॥

अर्थात्—'जो काव्य पुराना है, वही अच्छा है, सो बात नहीं; और जो-कुछ नया है, वह दोषयुक्त है, ऐसा समझना भी भूल है। ज्ञानी लोग प्रत्येक विषय की (चाहे वह पुराना हो, चाहे नया,) पूर्ण परीक्षा करने के बाद उसके दोष-गुण का निरूपण करते हैं, और मूढ लोग (जो कि स्वयं अपनी प्रज्ञा नही रखते) दूसरों की देखादेखी (भेड़ियाधसानी मनोवृत्ति का अनुसरण करते हुए) किसी भी विषय को अवसरानुरूप अच्छा या बुरा कहने लगते हैं।

कालिदास ने यह श्लोक तब लिखा था, जब उन्होंने अपनी प्रथम साहित्यिक कृति ('मालविकाग्निमित्र' नामक नाटक) जनता के सामने उपस्थित की थी। यह अनुमान करना अनुचित न होगा कि उस समय कालिदास नवयुवक थे, पर थे प्रतिभाशाली (जिसका प्रमाण बाद में लोगो को भली भाँति मिल गया था)। उन्हें सन्देह था (जैसा कि

स्वाभाविक है) कि चूँकि वह एक नये लेखक हैं, इसलिए एक अपरिचित लेखक की नाट्य रचना जनता द्वारा (चाहे वह कितनी ही विज्ञ क्यों न हो) कभी आदर की दृष्टि से ग्रहण नहीं की जायगी। इसलिए उन्होंने कलाविदो से ललकार कर कहा कि एक नये लेखक की नयी शैलीयुक्त रचना होने के कारण - इसे अवज्ञा की दृष्टि से न देखकर एक बार विवेचनात्मक दृष्टि से उसके गुण-अवगुण की परख कर लो। यदि निष्पक्षतापूर्वक विचार करने पर भी वह दोषयुक्त निकले, तो दूसरी बात है, पर यदि केवल भाव और भाषा के नयेपन के कारण ही तुम उसे दोषी बताओगे, तो यह बड़ा भारी साहित्यिक अन्याय होगा।

वास्तव मे कालिदास की वह प्रथम रचना उस युग के लिए प्रगतिशील थी। उसके पहले जितने भी नाटक संस्कृत भाषा मे लिखे गये थे, वे पौराणिक कथाओं के रूपान्तर-मात्र होते थे, उनमें न कवि की मौलिक कल्पना का कोई निदर्शन मिलता था, न नाटकीय प्रतिभा का परिचय। पर कालिदास ने उस प्राचीन परम्परा को एकदम तोड़कर अपने इस सिद्धात का परिचय दिया कि वह परम्परा की निष्प्राण शृखला मे अथवा किसी विशेष नाटकीय 'स्कूल' के सकीर्ण दायरे मे अपने को बाँधकर कवि के मुक्त प्राणों के भीतर हिल्लोलित होनेवाली सजीव कल्पनाओं की हत्या नही करना चाहते।

केवल नाटक के क्षेत्र में ही नहीं, काव्य-क्षेत्र मे भी कालिदास ने अपनी प्रगतिशील प्रवृत्ति का पूर्ण परिचय दिया। उनका 'मेघदूत' इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है। कालिदास के 'क्लासिकल'-युग में वास्तव

में 'मेघदूत' एक आकस्मिक, अप्रत्याशित और अपूर्व-कल्पित रचना थी। निश्चय ही उस युग के सरक्षणशील आलोचकों ने (जिनकी सख्या अवश्य ही काफी रही होगी) उस प्रगतिशील, अभिनव, रोमान्टिक रचना का विरोध बड़े कड़े शब्दो मे किया होगा। उस समय की आलोचनाएँ आजकल की तरह पत्र-पत्रिकाओ मे प्रकाशित नही होती थी, वरन् पण्डितों की भरी सभाओ में मौखिक रूप से उनकी आवृत्ति की जाती थी। इस बात के निश्चित प्रमाण मिलते हैं कि इस प्रकार विद्वत्-समाज के बीच मौखिक रूप से पढ़ी गई आलोचनाओं का प्रचार जितनी द्रुतगति से उस युग मे होता था, उतनी शीघ्रता से आजकल की पत्रिकाओ मे प्रकाशित आलोचनाओ का प्रचार नहीं हो पाता, और न आजकल की आलोचनाओ का पाठक-समाज पर उतना गहरा प्रभाव ही पड़ता है। 'मेघदूत' में कालिदास ने 'निचुल' तथा 'दिङ्नाग' का उल्लेख किया है। उन पर टिप्पणी करते हुए मल्लिनाथ ने लिखा है कि वे दोनो कालिदास के समकालीन आलोचक तथा कवि थे। यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि दिङ्नाग ने कालिदास की प्राथमिक रचनाओं में परम्परा का उल्लघन पाकर उनकी कड़ी आलोचना की थी, इसीलिए उन्होंने 'मेघदूत' को लक्ष्य करके कहा है कि "तुम दिङ्नागादि पुराण-पंथी आलोचकों का पथ त्याग कर आगे बढ़ना।"

कालिदास केवल अपने पिछले युगो से ही नहीं, स्वयं अपने युग से भी इतने आगे बढ़े हुए थे कि उनका 'मेघदूत' आधुनिक छायावादी युग की एक विशिष्ट रचना-सी लगती है। पर ऐसे प्रमुख प्रगतिवादी होने पर भी उन्होने कभी उस संस्कृति को अमान्य नहीं बताया, जो

परम्परा से अपनी जड़ जमाए हुए थी। वह जानते थे कि रामायण तथा महाभारत के समान विराट् महाकाव्य जिन युगों मे रचे गये हैं, उनका पुनरावर्तन कदापि नही हो सकता, और उनकी नक़ल सदा निष्प्राण तथा निष्फल सिद्ध होगी, तथापि उन दो महान् कृतियों के भीतर अपने अपने युगो की जो मूलशक्तियाँ निबद्ध हैं, वे सब युगों मे सजीव और सप्राण रहेगी और आणविक शक्ति (Atomic energy) की तरह चिरकाल मानवात्मा को महोद्देश्य के लिए तरगित करती रहेगी। कालिदास ने उक्त महाकाव्यो की नक़ल रञ्चमात्र भी नही की, पर अपने युग के प्रगतिशील साहित्य का निर्माण करने के लिए उन्हे जो प्रेरणा प्राप्त हुई, उसके मूल में उन महारचनाओ के अन्तर मे निहित, प्राणवेग से चिर-स्पन्दित शाश्वत शक्ति ही थी।

प्रत्येक महायुग की सामूहिक और सास्कृतिक शक्ति अपने पीछे एक चिरत्व का भाव छोड़ जाती है। युग-विवर्तन के साथ-साथ उस शक्ति का रूप बदल जाता है, और उस रूप का बदलना मानवात्मा की सहज प्रगतिशील प्रवृत्ति के विकास के लिए परम आवश्यक भी है; पर वह मूलशक्ति उसी प्रकार सरक्षित रह जाती है जिस प्रकार रेडियम के भीतर चिर-प्रस्फुटनशील वैद्युतिक अणु निबद्ध रहते हैं। जिन मूल प्राकृतिक शक्तियो ने वर्तमान वैज्ञानिक युग मे घर-घर काम आनेवाली तथा नित्य नये औद्योगिक आश्चर्यों की उद्भावना करनेवाली बिजली को जन्म दिया है, यदि हम उन्हे 'आउट आफ फैशन' कहकर अस्वीकृत करे, तो इस बात से उन शक्तियों का महत्त्व तनिक भी नष्ट नही होगा, भले ही हमारी मूर्ख और मिथ्या दाम्भिकता का निष्फल

जयोल्लास उसके द्वारा व्यक्त हो।

मै यह कदापि नही कहता कि हमें भूतकालीन संस्कृतियो के बन्धन में अपने को जकड़े रहना चाहिए। नही; जो व्यक्ति तनिक भी मानवीय बुद्धि रखता हो, वह कभी इस प्रकार की गतिहीनता की बद्ध पंकिलता में डूबे रहने का उपदेश नही देगा। मै केवल इतना ही कहना चाहता हूँ कि मानव की चिर-प्रगतिशील संस्कृति का मूल स्रोत जो भूतकाल है, उसे एकदम तिरस्कृत तथा अस्वीकृत करने से हम स्वय अपने पैरो पर कुल्हाड़ी मारेंगे। संस्कृति की प्रवाहशीलता नदी की चिर-गतिमान धारा की तरह है। पर यदि हम गगा के मूल स्रोत गगोत्तरी पर आधुनिक वैज्ञानिक उपायो से एक सुदृढ बाँध खड़ी कर दे, तो क्या उसकी गगा-सागरव्यापी प्रगतिशीलता, मूल उत्स के रुद्ध हो जाने से, बालू की शुष्कता मे परिणत नही हो जायगी? हम चिर-नवीन की ओर बढने के लिए कितनी ही कूद-फाँद मचावे, पर चिर-पुरातन प्रतिपल (हमारे जान में या अनजान मे) भूत की तरह हमारे साथ लगा ही रहेगा, यह ध्रुव निश्चित है। आधुनिक मनोविज्ञान इसी मूलाधार पर खड़ा हुआ है कि मनुष्य की अन्तश्चेतना मे युगों से सचित असख्य प्रवृत्तियाँ दबी पड़ी हैं, मनुष्य के सचेत मन को, अज्ञात अतल में छिपी हुई वे ही मूलवृत्तियाँ सब समय परिचालित करती रहती हैं। मनुष्य की आत्मा (मेरा आशय soul से है) के तीन-चौथाई भाग को उसकी अन्तश्चेतना घेर लेती है (जो युग-युगान्त के सस्कारो के सचित कोष के अतिरिक्त और कुछ नही है), और उसका केवल एक-चौथाई भाग हमारा सचेत मन अधिकृत करता है। तिस पर मज़ा यह है कि वह

एक-चौथाई भाग भी अन्तश्चेतना की अज्ञात प्रेरणा के बिना एक तिनका तक नही तोड़ सकता। हम भूत की कैसी ही अवहेलना क्यो न करे, पर वह सब समय, प्रतिदिन, प्रतिपल छाया की तरह हमारे साथ लगा ही रहता है। हम उसकी जितनी ही अवज्ञा करते हैं, वह उतनी ही अधिक प्रबलता से हमारा गला पकड़ने लगता है। मनोविश्लेषको का कहना है कि आधुनिक सभ्य जगत् मे स्त्री-पुरुषों में मनोभावनाओं की जो असख्य उलझी हुई गुत्थियाँ पाई जाती हैं, और उनके फलस्वरूप जो नाना प्रकार की मानसिक विकृतियो का तूफान उनके भीतर सब समय मचता-सा रहता है, उसका मूल कारण यही है कि आधुनिक मानव अपनी उन मूल प्रवृत्तियों को भूलना और दबाना चाहता है, जो उसे बर्बर युग से, बल्कि उससे भी पहले से, प्राप्त हुई हैं। मनोभावनाओं की विकृतियों के निराकरण तथा मानसिक उलझनों के सुलझाव के जो उपाय मनोविश्लेषको ने बताये हैं, उनमे सर्वप्रधान यह है कि हम अपनी उन आदिम—प्राथमिक—प्रवृत्तियो को दबाने की व्यर्थ चेष्टा करने के बजाय उन्हें सहज रूप मे ग्रहण करे, और जिस मूलशक्ति-स्रोत से हमारी वे प्रवृत्तियाँ युगो पहले प्रस्फुटित हो चुकी हैं, उसे मुक्त रूप से अपनावे, और अपनाने के बाद यह प्रयत्न करे कि इस मूलशक्ति को हम मानवीय सस्कृति के विकास के सुन्दर से सुन्दरतर स्तरों की ओर प्रेरित और परिचालित करने मे समर्थ हो सके। प्रगति की हमें परम आवश्यकता है, पर वह प्रगति हमारे अन्तर्द्वन्द्वो से उत्पन्न प्रतिक्रिया की पूँछ न हो, बल्कि वह उसी मूलशक्ति के सहज विकास का स्वाभाविक प्रतिफल हो, जो बर्बर-युग के मनुष्यो मे अपनी अज्ञात प्रेरणा

से उन्मद नृत्योल्लास की भावना जागरित करती थी; वैदिक युग मे जिसने वाह्य प्रकृति के चित्र-विचित्र सौन्दर्य का प्रभाव मानव की अन्तर-प्रकृति मे डालकर दोनो को एक रूप मे मिलित होने के लिए प्रेरित किया, रामायण के युग मे जिसने एक अत्यन्त उन्नत सामाजिक व्यवस्था के उच्च आदर्श, महत् आत्मत्याग की भावना के ज्वलन्त निदर्शन और नारीत्व की अनन्त महिमा के चरम कारुणिक स्वरूप की ओर मानवीय कल्पना को उन्मुख किया, महाभारत-काल मे जिसने मानव-जाति की सर्वतोमुखी प्रतिभा के चरम विकास तथा परम ह्रास की जीवन-मरण-लीला के परिपूर्णता-प्राप्त अखिल ताण्डव-नर्त्तन का विस्फूर्जित रूप जनता के आगे रखा कालिदास के युग मे जिसने मानव-मन की सुन्दर, सरस तथा सुकुमार मनोवृत्तियो के सहज स्फुरण की इन्द्रधनुषी माया का चित्रण करके अमिट रगो से विश्वात्मा को रॅग दिया, तुलसीदास के समय मे जिसने आत्म-विभोर भावप्रवणता के उद्दाम प्रवेग से जन-मन को आप्लुत कर दिया, और रवीन्द्रनाथ के युग मे जिसने एक ओर रोमान्टिक रहस्यवाद की विश्वमोहिनी माया से और दूसरी ओर कठोर जीवन-सघर्ष की घन-विषादाच्छन्न छाया से मानव-चेतना को एक छोर से दूसरे छोर तक उद्वेलित कर दिया।

हमे यह बात प्रतिक्षण ध्यान मे रखनी होगी कि मानवीय उत्पत्ति के आदिकाल से लेकर वर्तमान समय तक मूल प्रवृत्तियो का एक अच्छेद्य तार, एक अटूट लड़ी अपना अस्तित्व कायम रखती है। जब-जब अपनी आधिभौतिक सभ्यता के विकास-जनित गर्व से स्फीत अहंवादी मनुष्यों ने उस तार को छिन्न करना चाहा है और एक मूलतः नयी

सस्कृति और नयी सभ्यता की स्थापना का ढोंग रचकर पिछली सभ्यताओं के अवशिष्ट सस्कारो को जड़ से उखाड फेकने का औद्धत्य प्रदर्शित किया है, तब-तब ससार मे महाउत्पात मचे हैं, जिनके फलस्वरूप मानव-जाति को महान् कष्ट सहन करने पड़े हैं और प्रगति की ओर बढने के बजाय मानवता को दुर्गति के गहन गर्त मे गिरते हुए देखा गया है।

फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति के मूल उन्नायक रूसो ने ससार के इतिहास मे सब से पहले जन-साधारण के जागरण का मन्त्र उच्चारित किया, जिसका आशय इस प्रकार है—"मनुष्य एक स्वाधीन प्राणी के रूप मे जन्म लेता है, पर ससार मे वह सर्वत्र पराधीनता की बेड़ियों से जकडा हुआ पाया जाता है।" अपने 'ले कोत्रा सोशियाल' नामक विश्व-विख्यात ग्रन्थ मे उसने जन-साधारण की दलित अवस्था के विरुद्ध जिस भयकर विद्रोह की घोषणा की, उसी के फलस्वरूप बाद मे फ्रान्स की इतिहास-प्रसिद्ध राज्यक्रान्ति भडक उठी। पर चूँकि उसके शिष्यो ने उसके सिद्धान्तो को मनमाने रूप से तोड़-मरोड़कर विकृत रूप मे उनका प्रचार किया, इसलिए फल यह हुआ कि फ्रान्सीसी जनता का जागरण मानवसमाज को वास्तविक प्रगति तथा उन्नति के पथ की ओर ले जाने के बजाय केवल एक विनाशकारी सभ्यता की अस्थायी दानवी माया की सृष्टि करने मे सफल हुआ। रूसो ने यह कभी नही कहा कि दलित जनता को जन्मसिद्ध समान-अधिकार प्राप्त करने मे सफलता तभी मिल सकती है, जब वह पिछले युगो की सस्कृतियो को जड़ से उखाड़कर उन्हें धरातल से लुप्त कर दे। उन सस्कृतियों की ऊपरी तह पर विकृतियों

की जो काई लगी गई थी, उसे निकालकर अलग फेकने के पक्ष मे वह अवश्य था, पर उनके मूल मे जो शक्ति निरुद्ध थी, उसे सम्पूर्ण आत्मा से अपनाने का उपदेश उसने दिया था। यह बात विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है कि रूसो अपने युग का सर्वश्रेष्ठ प्रगतिवादी होने पर भी वैज्ञानिक उन्नति को मानवीय विकास की सहज, स्वाभाविक प्रगति के पक्ष मे घोर हानिकर बताता था। वह सभ्यता के आदिम युग के मनुष्यों की जीवनचर्या का ज़बर्दस्त प्रशसक था, और जो सभ्यता उस आदिम शक्ति के सहज विकास के फलस्वरूप उत्पन्न हुई हो उसका पक्षपाती था। पर उसके शिष्यो ने इसके बिलकुल विपरीत मत का प्रचार करना आरम्भ किया। उन लोगो का कहना था कि ज्ञान की जो धारा सभ्यता के प्रारम्भिक काल से लेकर उनके समय तक प्रवाहित होती आई है, उसे एकदम सुखा देना होगा और उस "पुरानी, सड़ी-गली सभ्यता तथा सस्कृति" के स्थान पर एक मूलतः नयी और प्रगतिशील सस्कृति की स्थापना करनी होगी। मूलशक्ति-स्रोत को तिरस्कृत करके 'प्रगतिशील सभ्यता' के उन अग्रदूतो ने जो राज्यक्रान्ति मचाई, उसका परिणाम कैसा घोर विनाशक और प्रतिक्रियात्मक सिद्ध हुआ, इस बात से इतिहास के पाठक भली भाँति परिचित है। उस क्रान्ति के फलस्वरूप निरर्थक जन-सहार हुआ, नेतागण आपस मे ही लड़कर कट मरे, जनता प्रगति के पथ पर एक पग भी आगे न बढ सकी, बल्कि पहले की अपेक्षा कई गुना अधिक दुर्गति के चक्रजाल मे जकड़ गयी। जन-जागरण की उस महाक्रान्ति की चरम परिणति नेपोलियन के समान एक ऐसे परम अवसरवादी डिक्टेटर

के उत्थान मे हुई,जिसने अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए (वर्तमान युग मे हिटलर के समान ही) समस्त यूरोप को अपने पैरों तले रौंद डाला और प्रलयकर रक्तपात मचाकर स्वाधीन राष्ट्रो को दासत्व की शृखला मे बाँध दिया। "स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व" का स्वप्न उसी दम छिन्न-भिन्न हो गया। इसीलिए मैने कहा है कि मानवीय सस्कृति के विकास की स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रगति को रुद्ध करके एक मूलतः नयी (और स्वभावतः कृत्रिम) संस्कृति को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा मानव-जाति के दाम्भिक नेताओ द्वारा जब-जब हुई है, तब-तब उसका उलटा परिणाम हुआ है।

जिस प्रकार फ्रान्सीसी राज्यक्रान्ति की विक्रान्ति के फलस्वरूप नेपोलियन के समान ज़ालिम डिक्टेटर का उत्थान हुआ, ठीक उसी प्रकार रूस की बोलशेविक क्रान्ति की प्रतिक्रिया के परिणाम-रूप हिटलर का बोलबाला हुआ, जिसने नेपोलियन से भी अधिक उग्रता के साथ अपनी महत्त्वाकाक्षा की अग्नि-शिखाओं से सारे ससार को आच्छादित कर लिया है। वर्तमान महायुद्ध इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि इस युग की संस्कृति फिर एक बार बर्बर युग की मनोधारा को पूर्ण रूप से अपना चुकी है, अथवा यह कहिये कि तथाकथित 'प्रगति' के ऊपरी कोलाहल के नीचे, सभ्यता के झीने पर्दे के अन्तराल मे, जिस बर्बरता को मनुष्य अपने अनजान मे अपनाता चला जाता था, वह वर्तमान समय में चरम परिणति को प्राप्त होकर, सभ्यता के ढोंग-भरे पर्दे को फाड़ कर अपना वास्तविक हिंसक रूप प्रकट कर रही है। ग़रज़ यह कि चाहने पर भी मनुष्य भूत से अपना सम्बन्ध-विच्छेद नहीं कर सकता। अब प्रश्न केवल

इतना ही है कि वह अपनी परम्परागत विकृतियों का विकास करना चाहता है या सस्कृतियों का। मानव-समाज की भूतकालीन सस्कृतियो को 'सड़ी-गली' बताकर उनके मूलोच्छेदन का उपदेश जनता को देकर आप आसानी से तथाकथित 'प्रगतिवादियों' के गिरोह में अपना नाम 'रजिस्टर्ड' करवा सकते हैं, पर ऐसा करने के पहले आपको एक बात पर विशेष रूप से ध्यान देना होगा। प्राचीन संस्कृतियाँ बीज-रूप मे जो जीवनी शक्तियाँ आपको प्रदान कर गयी हैं, उन शक्तियो के मूलतत्त्वों को ग्रहण न करने से स्वभावतः आप मानव-प्रकृति की परम्परागत विकृतियो को पूर्णरूप से अपनाने के लिए बाध्य होंगे। आपके लिए केवल दो मार्ग हैं—या तो आप पिछले युगों की संस्कृतियो से प्राप्त शक्तितत्त्वो को ग्रहण करके उनके विकास द्वारा वास्तविक प्रगति का अनुसरण करें, या उन सस्कृतियों के निम्नस्तर मे, समानान्तर रेखा मे स्थित विकासशील जो मानवीय विकृतियाँ हैं, उनका जयघोष निनादित करे। इन दो मार्गों मे से एक को अपनाना आपके लिए अनिवार्य है। तीसरे किसी भी पथ पर चलने की चेष्टा शून्य मे चलने के बराबर होगी, जिसके परिणाम-स्वरूप पृथ्वी का माध्याकर्षण आपको बुरी तरह ज़मीन पर पटक कर छोड़ेगा। मार्क्सानुगामी रूसी क्रान्ति के नेताओ ने समता का आदर्श प्रतिष्ठित करने का विराट प्रयास करके एक महान् सदुद्योग किया था, यह बात माननी ही पड़ेगी; पर उनकी अपेक्षाकृत असफलता का सबसे बडा कारण यह रहा कि उन्होंने भूतकालीन मानवीय सस्कृतियो के बीज-रूप मे अव-शिष्ट चिह्न को मूलतः विनष्ट करने का दुष्प्रयत्न किया। बाद मे वे अपनी इस भूल को महसूस करने लगे थे; पर तब काफी देर हो चुकी थी। फल

यह हुआ कि उनके अन्तर-राष्ट्रीय साम्यवाद का आदर्श केवल राष्ट्रीय 'डिक्टेटरशिप' के रूप मे परिणत होकर रह गया, और अपने 'फादर-लैण्ड' की रक्षा के लिए उन्हे जर्मनो के 'फाटरलाण्ड' (पितृभूमि) के सर्वस्व हिटलर से सन्धि करनी पड़ी। इस सन्धि से यह बात संसार के आगे स्पष्ट हो गयी कि रूस अपने आदशो से कितना गिर गया है। स्टा-लिन को अपनी यह दूसरी बड़ी भूल भी बहुत देर बाद मालूम हुई— तब जब हिटलर की सेनाएँ रूस पर पूर्णरूप से आक्रमण कर चुकी थी। अब यह देखना है कि हिटलरीय माया से पूर्णतः मुक्त होने के बाद जो नया रूस हमारे सामने आवेगा, वह अपनी भूलो से किस हद तक शिक्षा प्राप्त करता है।

भूतकाल को अस्वीकृत करने की चेष्टा कितनी व्यर्थ है, यह बात हमारे तथाकथित प्रगतिवादियो के लेखो तथा कविताओ से स्पष्ट हो जाती है। हमारे प्रगतिपथी हमे यह शिक्षा देने लगे हैं कि "पशु से प्रेम करना सीखो मानव!" यह किसी ऐसे-वैसे कवि की नहीं, बल्कि एक प्रमुख प्रगत्याचार्य कवि की पक्ति है। इस एक पक्ति से जो भाव व्यजित होता है, वर्तमान ('अ' १-) 'प्रगतिशील' कवियो की बीसियों कविताएँ उसी भाव से, बल्कि उससे भी उग्रतर भाव से ओतप्रोत हैं। हमारे 'अग्रगामियों' को यह मजूर है कि मनुष्य विकास के उलटे क्रम की ओर लौट कर इस हद तक पीछे चला जाय कि एकदम पशुत्व को ही अपना ले, पर यह स्वीकार्य नही है कि पिछले युगो की सस्कृतियो के मूलशक्ति-तत्त्वो को ग्रहण करके उन्हे आगे की ओर अधिकाधिक विकसित करे और मान-वता को उच्च से उच्चतर आदर्शों की ओर प्रेरित करता चला जाय।

बर्बर-युग से लेकर आज तक जो पशु-प्रवृत्तियाँ मानव-स्वभाव के अन्त-स्तल मे चिर-गतिशील रूप में वर्तमान हैं, उनके पूर्ण विस्फोट और मुक्त प्रदर्शन के लिए हमारे 'अग्रपथी' कवि तथा लेखक ज़ोर दे रहे हैं, इससे स्पष्ट है कि भूत से वे अपना पिण्ड नही छुड़ा सकते। यदि भूतकाल की सस्कृतियों को ठुकराना और उसी भूतकाल की विकृतियो को अपनाना ही प्रगति है, तो आधुनिकतम हिन्दी साहित्य निश्चय ही प्रगतिशील है, और मै, जो कि इस प्रकार की 'प्रगतिशीलता' का विरोध करता आया हूँ, निश्चय ही घोर प्रतिक्रियावादी हूँ। पर मेरा अपना ऐसा विश्वास है कि मै सदा यथार्थ प्रगतिशीलता को मुक्त हृदय से अपनाने का प्रयास करता आया हूँ; पर उस प्रगतिशीलता से मेरा अवश्य विरोध रहा है जो भूतकालीन सस्कृतियों के बीजो के विनाश, किन्तु बर्बर-युग की विकृतियो के विकास को अपना आदर्श मानती है।

* * *

मेरा ध्रुव विश्वास है कि कुछ बँधे हुए शब्दों, पदों अथवा वाक्यो का प्रयोग करके वे पाठको को धोखे मे डालना चाहते हैं, और वास्तव मे उनकी मानववादी कृतियो के अन्तराल मे एकान्तिक अहवाद द्वारा अभिरजित प्राथमिक प्रवृत्तियाँ परम स्वार्थमयी वासनाओ की दुर्गन्धि से ओतप्रोत रहती हैं। अहवाद की चरम-साधना और मानवीय समता की आराधना, ये दो परस्पर-विरोधी बाते कदापि एक साथ नही चल सकती। पर हमारे 'प्रगतिशील' कवियो ने इस असम्भव में सम्भव कर दिखाने का पूरा प्रयास किया है। एक ओर कुछ कविताओं मे उन्होने दलित मानव की विद्रोहात्मक पुकार को घोषित किया है और समस्त मनुष्यजाति के

समानाधिकार का पाठ पढाया है, दूसरी ओर अपने 'अहम्' के चरम विकास का राग अलापा है। पाठकों को यह समझाना नहीं होगा कि रोमान्टिक अथवा छायावादी युग का सबसे बड़ा दोष यह रहा है कि उस युग के प्रत्येक कवि ने केवल अपने सुख-दुःख, अपनी प्रेम-पीड़ा, अपनी एकान्त स्वार्थमयी सौन्दर्य-साधना, अपने राग और अपने द्वेष को अभिव्यक्त किया है—जन-साधारण के प्रतिदिन के सघर्षमय जीवन के कठोर वास्तविक सत्य को एकदम भुलाकर। इस निपट अहभाव के प्रति विद्रोह के फलस्वरूप १९१८ के महायुद्ध के बाद यूरोप मे प्रगतिवादी आन्दोलन ने ज़ोर पकड़ा, जो १९३५ के क़रीब हमारे साहित्य-ससार तक पहुँच पाया। इस आन्दोलन का मुख्य उद्देश्य था कवियों तथा कलाकारों के अहभाव को जन-साधारण की सम्मिलित अनुभूतियों की ओर प्रेरित करके उसे समभाव मे परिणत करना। यही कारण था कि वैयक्तिक मनोविज्ञान ससार मे दिन पर दिन लोकप्रियता प्राप्त करने लगा। उक्त मनोविज्ञान के आचार्यों ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि समस्त मानवीय विकृतियों का मूल कारण मनुष्य के अहभाव का विकास है। अब यदि हमारे कविगण लोकप्रियता प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रगतिवादियों के स्कूल मे अपना नाम लिखाकर मेमनो का केवल बाह्य वेश ही धारण करें, और उस वेश के भीतर छिपे हुए अपने असली रूप को—अपने अहभाव की मनोवृत्ति को—फिर से पूर्णतया चरितार्थ करने लगे, तो स्पष्ट है कि उनसे अधिक प्रतिक्रियावादी और मानव-विद्वेषी किसी भी पिछले युग का कोई कवि नही हो सकता।

मैं प्रायः सभी स्वयसिद्ध 'प्रगतिवादी कवियों' की रचनाओं मे 'समभाव'

के 'कैमूफ्लाज' (दूसरों को धोखा देने के लिए रचा गया इन्द्रजाल) की आड़ मे घोर 'अहभाव' का विस्फोट ध्वनित हुआ पाता हूँ। क्या इस प्रकार के अहभाव के विस्फूर्जन से सारे साहित्यिक वातावरण को छा देना ही प्रगतिशीलता' का चरम आदर्श है? अहभाव मनुष्य का सबसे प्राचीन भाव है। यदि उसी की विकृतियो का राग अलापना है, तो पिछले युगो के कवियो ने, "सड़ी कला-सस्कृति के अनुचरो" ने क्या बिगाड़ा, जो अहभाव की विकृति को नही, बल्कि सस्कृति को अपनाने के पक्ष मे थे? असल बात वही है, जो मै पहले कह चुका हूँ—भूतकाल की सस्कृतियों से मूलतः सम्बन्ध-विच्छेद की विफल चेष्टा का परिणाम स्वभावतः यही होगा कि हम भूतकालीन विकृतियों को बरबस अपनावेंगे और बर्बरतम युग की आदिम वासनाओं का बाँध तोड़ने को बाध्य होंगे। 'प्रगतिवाद' के नाम पर हमारे साहित्य के वर्तमान युग मे वही हो रहा है।

नवोदित 'प्रगतिवादी' कवियो का इसमे उतना दोष नही है, जितना हमारे प्रधान आचार्यों का। "गोरी न सही साँवरी सही" (अर्थात् 'एरिस्टोक्रेटिक' महिला का प्रेम न सही, 'जर्जर बाँहो वाली भिखारिन' ही सही) का उपदेश नये प्रगतिशील कवियों को पहले ही मिल चुका है, और "प्रेम करना पशुओ से सीखो,!" की सीख नये कवियो की नस-नस मे व्याप्त हो चुकी है। ग्राम्या नारी तथा ग्रामीण नर के जीवन का परिचय केवल उन्मत्त काम-कला-सम्बन्धी नर्तनों के 'बैकग्राउण्ड' मे प्राप्त करने की प्रेरणा उन्होंने अपने गुरुओ से पा ली है। 'महाजनो येन गतः स पन्थाः' की नीति का अनुसरण करना हमारे

तरुण अग्रपन्थी कवियो के लिए स्वाभाविक था ।

मुझे एक ऐसे सज्जन से बाते करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, जो हिन्दी-जगत् के वर्तमान प्रगतिवादी आन्दोलन के मूल सचालकों तथा सगठनकर्ताओं के बीच मे रहे हैं और स्वय भी कट्टर प्रगतिवादी हैं। उनका कहना है, हिन्दी मे 'प्रगतिवाद' के नाम पर जितनी भी 'कलात्मक' रचनाएँ आज तक प्रकाशित हुई हैं, उनमे से कोई भी प्रगतिशील सघ के मूल सिद्धान्तो के अनुरूप नहीं है। प्रगतिशील सघ के 'मूल सिद्धान्त' क्या हैं, यह बात मुझे अभी तक निश्चित रूप से नही मालूम हो सकी, यद्यपि मैंने जानने की बहुत चेष्टा की है। पर यदि उक्त सघ के सदस्यो का यह विश्वास है कि हमारे तथाकथित प्रगतिपथी कवियो, कथाकारों और नाटकाचार्यों की रचनाएँ वास्तविक प्रगति की उन्नति मे सहायक नही, बल्कि बाधक हैं, तो वे मेरा विरोध करने के पहले उन कलाकारों का विरोध क्यों नही करते ? मै उक्त सघ से सम्बन्धित सज्जनों को विश्वास दिलाता हूँ कि सच्ची प्रगति का मैं सबसे पहला समर्थक हूँ, और पिछले साहित्यिक युगो की जड़ता और विकृति के विरुद्ध सब से पहली आवाज़ मैंने वर्षों पहले उठाई थी, और बराबर उठाता आया हूँ। पर झूठी प्रगति का ढोग रचकर उसकी आड़ मे अपने चिर-पुरातन अहभाव के फफोले फोड़ने वाले कलाकारों को मैं दूर ही से नमस्कार करना चाहता हूँ और उनका विरोध सदा करता आया हूँ और करता रहूँगा। मुझे पूरा विश्वास है कि निकट भविष्य में हमारे साहित्य-जगत् मे सच्चे अर्थ मे प्रगतिशील कलाकारो का उद्भावन होगा, जो भूत और वर्तमान सस्कृतियों की मूल बीजक-शक्तियों के सामंजस्य द्वारा लाभान्वित

होकर विश्व-कल्याण के लिए आन्तरिक प्रेरणा से अग्रसर होंगे। इस लेख द्वारा मै उन आने वाले तरुण महात्माओं के प्रति अपनी श्रद्धा अर्पित करता हूँ। मुझे पूरा विश्वास है कि हमारे सच्चे प्रगतिवादी साहित्य का भविष्य बहुत उज्ज्वल है। जिन घोर प्रतिक्रियावादी गिर-गिटो ने अपने चमड़े के बाहर प्रगतिवाद का केवल रग चढा लिया था, अब उनकी पोल धीरे-धीरे खुलने लगी है। पाठक समझने लगे हैं कि कलात्मक और साम्यवादी दोनो अर्थों मे सच्चे प्रगतिवादी कौन हैं और कौन नही। इसलिए इस बात की पूरी आशा की जाती है कि निकट भविष्य मे वास्तविक प्रगतिवादी साहित्य का बीज उपयुक्त मिट्टी, खाद और जल पाकर, योग्य खेतिहरो द्वारा लालित-पालित होकर पनपेगा और बहुत ही सुंदर, स्वस्थ और पुष्ट रूप मे प्रस्फुटित होगा।

गद्यकार महादेवी

अब तक महादेवीजी ने अपनी करुण कोमल कविता से ही साहित्य मे प्रवेश किया था। 'अतीत के चलचित्र' उनकी प्रथम गद्य पुस्तक है। रचना चाहे गद्य की हो चाहे पद्य की, उसमे साहित्यकार के व्यक्तित्व का प्रभाव अवश्य रहता है। साहित्यकार जो कुछ लिखता है, उस पर उसके अनुभवो, विचारों तथा मनोभावो की छाप उसी प्रकार छिपी रहती है, जिस प्रकार वस्तु की स्थिति के साथ उसकी छाया। यह छाया कभी स्पष्ट और कभी अस्पष्ट होती है, किंतु उसका अस्तित्व अमिट रहता है।

हिंदी-काव्य मे महादेवीजी ने करुणा का जो शृङ्गार किया है वह दूसरे कवि से नहीं बन पड़ा। इसका यह मतलब नहीं कि करुणा अन्य कवियो मे नही है, किंतु वह उतनी मधुर तथा सुंदर एवं आलोकमयी नही हो पायी जितनी महादेवीजी के काव्य मे, इसमे सन्देह नहीं। महादेवीजी के काव्य मे करुणा करुण न होकर सरस-सजल हो गयी है, क्योंकि बहिर्जगत् तथा अन्तर्जगत् मे उन्होंने उसके व्यापक अस्तित्व की एक ऐसी आभा दिखला दी है जो भावों तथा अभावों, दोनों को अपनी समान-सहानुभूति से सहज ही में बाँध लेती है। यही उनके कवि की विशेषता है। 'अतीत के चलचित्र' मे भी हम इसी भाव-धारा का अविरल प्रवाह पाते हैं। स्वाभाविक भी यही है। कविता और कहानी, दोनों मानवता के प्रारम्भिक साथी हैं; अन्तर इतना है कि शिशु-रूप

मे मनुष्य बिना किसी सार्थकता का ध्यान रखे हुए अपनी माँ से बोल उठता है कि—"माँ कह एक कहानी", किंतु जीवन के सघर्ष मे पड़ कर वह जीवन की वास्तविकता का बोध करानेवाली कहानी से ही तुष्ट होता है। कवि और कहानीकार एक ही लोक के निवासी हैं, दोनो की क्रीड़ा-भूमि है—मानव-जीवन। कवि यदि भावनाओं का गायक है तो कहानीकार उनका निरीक्षक। कहानीकार जिसका निर्माण करता है कवि उसका उपयोग। दोनो का उद्देश्य एक है—जीवन की मार्मिकता का समवेदनात्मक उद्घाटन। जिस प्रकार गीत-कविता एक ही भावना की-तन्मयता मे सजीव हो उठती है, उसी प्रकार एक छोटी कहानी एक ही भावना के उन्मेष-क्षणो मे अपना जन्म पा सकती है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि कवि और कहानीकार के सम्मेलन से जो साहित्य-सृष्टि होगी वह मानव मात्र के लिए कल्याणकारी होगी, यह निर्विवाद है। 'अतीत के चलचित्र' हिंदी-साहित्य के लिये ऐसा ही सुफल है। इसमे महादेवीजी की कुछ ससमरणात्मक कहानियो का सग्रह है। इन कहा-नियो के विषय मे लेखिका का यह वक्तव्य उल्लेखनीय है—

"समय-समय पर जिन व्यक्तियो के सम्पर्क ने मेरे चिंतन को दिशा और समवेदन को गति दी है उनके ससमरणो का श्रेय जिसे मिलना चाहिये उसके सम्बन्ध मे मै कुछ विशेष नही बता सकती। कहानी एक युग पुरानी या करुणा से भीगी है। मेरे एक परिचित परिवार में, स्वामिनी ने अपने एक वृद्ध सेवक को किसी तुच्छ-से अपराध पर, निर्वासन का दण्ड दे डाला और फिर उनका अहकार उस अकारण दण्ड के लिए असख्य वार माँगी गयी क्षमा का दान भी न दे सका।

ऐसी स्थिति में वह दरिद्र पर स्नेह में समृद्ध बूढा, कभी गेंदे के मुरझाये हुए फूल, कभी हथेली की गर्मी से पसीजे हुए चार बताशे और कभी मिट्टी का एक रंगहीन खिलौना लिए अपने नन्हें प्रभुओं की प्रतीक्षा मे पुल पर बैठा रहता था। नये नौकर के साथ घूमने जाते हुए बालकों को जब वह अपने तुच्छ उपहार देकर लौटता तब उसकी आँखें गीली हो जाती थीं। सन् ३० में उसी भृत्य को देख कर मुझे अपना बचपन और उसे अपनी ममता से घेरे हुए रामा इस तरह स्मरण आये कि अतीत की अधूरी कथा लिखने के लिए मन आकुल हो उठा।"
बस, इसी करुण घटना से इन कहानियों के जन्म को प्रेरणा मिलती है इस करुणा का महत्त्व सभी के लिए शायद अधिक बोधगम्य है, क्योंकि जब महादेवी का कवि गा उठता है कि—

"सजनि मैं उतनी करुण हूँ, करुण जितनी रात"

तब उनका कवि अपनी ही अन्तरात्मा में प्रवेश करके अपने अनुभवों तथा भावनाओं से प्रेरित होता हुआ अपने प्रतिपाद्य विषय को ढूँढ निकालता है, जिसका हमारे जीवन से उतना सम्बन्ध नहीं है, जितना उनके कहानीकार के अपनी अन्तरात्मा से बाहर जाकर सासारिक कृत्यों तथा रागों मे पैठते हुए कुछ ढूंढ निकालने के वर्णन से। कवि तो भावना तथा कल्पना की भूमि से जीवन को देखता है और कहानीकार जीवन मे भावना और कल्पना के लोक में पहुँचता है। इसीलिए कहा जाता है कि काव्य का सत्य प्रत्यक्ष सत्य की ही कसौटी पर नहीं कसा जा सकता, क्योंकि उसमे वह सत्य भी निहित रहता है जो सम्भवतः सत्य कहा जा सकता है। सत्य और सौंदर्य तो काव्य के आवश्यक उपादान हैं,

किंतु उसके शिवत्व पर मत-भेद है।

कहानी बिना यथार्थ की अनुरूपता प्राप्त किये हुए सम्भवतः अपना विकास ही नही कर सकती और अपनी इसी वास्तविकता के लिए वह जन-साधारण के भी पहुँच की वस्तु मानी जाती है। किसी भी साहित्य की सचाई और उसके व्यक्तित्व का सर्वश्रेष्ठ प्रमाण उसका जीवन है। सस्मरणो मे वह अपने आप आ जाता है, अस्तु। 'अतीत के चलचित्र' में हम देवीजी की कला की कमनीयता के साथ उनके जीवन की पवित्रता का भी सहज ही मे बोध प्राप्त कर लेते हैं, क्योंकि ऐसी कला के भीतर कलाकार के आत्म-रूप की चेतना ही कला का स्वरूप निश्चित करती है।

हाँ, तो यह पहले कहा जा चुका है कि कहानियों मे यथार्थ की अनुरूपता आवश्यक है, किंतु यह जान लेना भी उतना ही आवश्यक है कि जनसाधारण और साहित्यकार का यथार्थ एक नही होता, क्योकि साहित्य-सृजन मनुष्य की सत् प्रवृत्तियो की प्रेरणा मात्र है। अतः यदि कला मनुष्य के अन्तःकरण का सच्चा प्रतिबिंब है, तो अवश्य ही वह सत् की ओर प्रवृत्त होगी। सत्य से आत्मा का सम्बन्ध तीन प्रकार का माना गया है—एक जिज्ञासा का, दूसरा प्रयोजन का और तीसरा आनन्द का। जिज्ञासा का लगाव दर्शन से, प्रयोजन का विज्ञान से तथा आनन्द का सम्बन्ध केवल साहित्य से है। सत्य जहाँ आनन्द का उद्रेक करता है वहीं वह साहित्य की संज्ञा पा जाता है। कलाकार का यथार्थ भी इसी सत्य का समर्थक होता है।

महादेवीजी के सस्मरणों की यथार्थता को यदि स्वाभाविकता कहा

जाय तो अधिक अच्छा हो, क्योंकि उनके यथार्थ पर आदर्श उसी प्रकार स्थापित है जिस प्रकार पृथ्वी पर आकाश। कहानियो की यह करुणा एव मनुष्यता की यह ममता शरद् बाबू ने प्रथम बार भारतीय साहित्य मे सुलभ की थी, महादेवजी ने अपनी समवेदना-शक्ति से उसे एक नवीन गति दी है। इन सभी कहानियो मे करुणा का एक अबाध स्रोत है, पीड़ितों और उपेक्षितों के प्रति हार्दिक समवेदना है, मनुष्यत्व को जगा देने की कामना है और है विश्व-कल्याण की एक भावना। जगह-जगह उनका कवि अपनी समवेदना की सीमा पर खड़ा होकर जैसे गाने लगता है—

मधुर राग बन विश्व सुलाती
सौरभ बन कण-कण बस जाती
भरती मैं ससृति का क्रन्दन
हँस जर्जर जीवन अपने मे!

उनके सभी सस्मरण एक निश्चित उद्देश्य एव लक्ष्य को लेकर लिखे गये हैं, किंतु उनमे उपदेशक की शुष्कता का आभास नही मिलता, वरन् उनके निर्णय को पाठक सहज ही मे इस प्रकार ग्रहण कर लेता है जैसे माँ के बन्धन को एक शिशु। देवीजी की सभी कहानियाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण तथा जीवन के यथार्थ को स्पर्श करती हुई आगे बढती हैं। उनमें कल्पना की मात्रा कम तथा अनुभूतियों का आधिक्य है और समाज की स्वार्थपरता पर एक आकुल आक्रोश भी है। 'सबिया' के प्रसग को लेकर देवीजी का यह कथन उद्धरणीय है—

"पुरुष भी विचित्र है। वह अपने छोटे से छोटे सुख के लिए स्त्री को

बड़ा से बड़ा दुःख दे डालता है और ऐसी निश्चिंतता से, मानो वह उसका प्राप्य ही दे रहा है। सभी कर्तव्यों को वह चीनी से ढकी कुनैन के समान मीठे रूप मे ही चाहता है। जैसे ही कटुता का आभास मिला कि उसकी पहली प्रवृत्ति सब कुछ जहाँ का तहाँ पटक कर भाग खड़े होने की होती है।"

यह आक्रोश केवल नारी का पक्ष लेकर ही नही चलता, वरन् लेखिका ने अपनी निश्पक्षता के दृढ़ आधार पर नारियों के प्रति भी अपनी उदासीनता प्रसग के अनुसार प्रकट की है। देहाती ननदों की निर्दयता का कितना मार्मिक दिग्दर्शन है—"सब से कठिन दिन तब आते जब वृद्ध सेठ की सौभाग्यवती पुत्री अपने नैहर आती थी। उसके चले जाने के बाद भाभी के दुर्बल गोरे हाथों पर जलने के लम्बे काले निशान और पैरो पर नीले दाग रह जाते थे।"

इस प्रकार समय और परिस्थिति के अनुकूल उनके सभी पात्र अपनी सारी सजीवता के साथ जीवन-यात्रा की ओर चलते दिखलाई पड़ते हैं। महादेवीजी अपने उद्देश्य-विषय की प्रेरणा से प्रभावित होकर उनके मार्ग मे कोई कृत्रिम बाधा नही उपस्थित करती। उनके पास किसी सिद्धात का नही, वरन् मनुष्यता का माप-दण्ड है। कहानी की यही स्वाभावकिता जहाँ एक ओर उसकी सीमा बाँध देती है वहाँ दूसरी ओर उसे साधारण जीवन के समीप भी रख देती है। कहानियो मे कुछ व्यक्तियों के साथ कुछ ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं, जो हमारे दैनिक जीवन के समीप पड़ती हैं। साराश यह कि कविता की भाँति कहानियों से हमे केवल काल्पनिक तथा बौद्धिक वृत्तियो की तृप्ति नही मिलती, किंतु उससे

हम जीवन की पहेलियों का एक समाधान पाते हैं। कविता पढ़कर हम सोचते हैं कि ऐसा हो सकता है और कहानियों में हम वह पाते हैं जो होता है। अस्तु, हम कह सकते हैं कि देवीजी की कहानियों का एक छोर कविता है तो दूसरा छोर जीवन, और यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है। इसी द्विमुखी साधना से वास्तविक जीवन के निम्न व्यक्तियों को लेकर देवीजी ने जीवन का समय-सापेक्ष चतुर्दिक् चित्र न लेकर भी केवल एक भावना से जीवन की घनीभूत मार्मिक वेदना को जिस प्रकार स्पर्श किया है वह सर्वथा स्तुत्य है।

सम्भवत साहित्य मन और स्वभाव की उपज है। इसलिए जिन बातों का प्रभाव मनुष्य के स्वभाव और मनुष्य के जीवन पर पड़ता है उनका प्रभाव उसके साहित्य पर भी पड़ता है। साहित्यकार के जीवन को जानने के लिए उसका साहित्य काफी होता है, विशेषकर संस्मरणों में तो वह और भी स्पष्ट रहता है। देखिये न एक शिशु की सहज स्पर्धा के साथ अपने शिशु रूप का कितना स्पष्ट चित्रण लेखिका ने उपस्थित किया है—"इतना कष्ट सहकर भी दूसरों को राजत्व का अधिकारी मानना अपनी असमर्थता का ढिंढोरा पीटना था, इसीसे मैं साम, दान, दण्ड, भेद के द्वारा रामा को बाध्य कर देती कि वह केवल मुझी को राजा कहे।"

"पिन-पिन करके रोना मुझे बहुत अपमानजनक लगता था।" मैं तो कहूँगा कि जीवन की किसी भी जटिल परिस्थिति में इन पक्तियों का आज भी वे समर्थन करेंगी। "मेरी बुद्धि सहज ही पराजय स्वीकार करना नहीं जानती।"

देवीजी के आत्म-विश्वास की साधना ने ही आज के प्रगति-पथियो की अनेक कटु आलोचनाएँ सुन कर भी उन्हें अपनी स्थिति मे अटल रखा, अन्यथा इस तूफानी युग मे कौन नही आत्म-विस्मृत हो गया ? अपने पात्रों के रेखाचित्र में तो वह इतनी चित्रोपमता ला देती हैं कि पात्र हमारे सामने प्रत्यक्ष-सा खड़ा हो जाता है।

"रामा के सकीर्ण माथे पर खूब घनी भौंहे और छोटी-छोटी-स्नेह-तरल आँखे, किसी थके झुँझलाये शिल्पी की अन्तिम भूल जैसी मोटी नाक, साँस के प्रवाह से फैले हुए से नथुने, मुक्त हँसी से भर कर फूले हुए से होंठ तथा काले पत्थर की प्याली मे दही की याद दिलानेवाली सघन और सफेद दन्त-पक्ति।" यह है रामा का चित्र। स्पष्ट और बोध-गम्य। एक पहाड़ी युवती का भी चित्र देखिये:—

"धूप से झुलसा हुआ मुख ऐसा जान पडता है जैसे किसी ने कच्चे सेव को आग की आँच पर पका लिया हो। सूखी-रूखी पलको मे तरल-तरल आँखे ऐसी लगती हैं मानों नीचे आँसुओं के अथाह जल मे तैर रही हों और ऊपर हँसी की धूप से सूख गयी हों। शीत सहते-सहते होंठों पर फैली नीलिमा, सम दाँतो की सफेदी से और भी स्पष्ट हो जाती है। रात-दिन कठिन पत्थरों पर दौड़ते-दौड़ते पैरो मे, और घास काटते-काटते तथा लकड़ी तोड़ते-तोड़ते हाथों मे जो कठिनता आ गयी है, उसे मिट्टी और गोबर की आदत ही कुछ कोमल कर देती है।"

बीच-बीच मे विनोदमय व्यगों की मार्मिकता और ध्वन्यात्मकता तो सीधे हृदय पर पहुँचती है:—

"मनु महाराज जो कह गये हैं उसे असत्य प्रमाणित कर कुम्भीपाक

मे बिहार करने की इच्छा न हो, तो यह कहना ही पड़ेगा कि बिट्टो तीसरे विवाह की इच्छा हृदय के किसी निभृत कोने मे छिपाये हुए है। और उसके उद्धार के लिए निरन्तर कटिबद्ध वृद्ध परोपकारियो की, इस पुण्य-भूमि मे और विशेषकर इस जाग्रत युग मे कमी नही हो सकती। फिर इतने विलाप-कलाप की क्या आवश्यकता है?"

* * *

"एक बार अपनी लम्बी अकर्मण्यता पर लज्जित हमारे हिंदू-मुस्लिम भाई वीरता की प्रतियोगिता मे सक्रिय भाग ले रहे थे तब... ।"

व्यक्ति, समाज तथा ससार की इतनी मीठी तथा मर्मस्पर्शी चुटकियाँ ली गयी हैं कि एक बार पाठक का मन भी लेखक के साथ ही उन बातो को लेकर तिलमिला उठता है।

इन उपर्युक्त विश्लेषणो और उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि देवीजी के सस्मरणों मे जीवन का सत्य, मनोवैज्ञानिक रहस्य, सघर्ष की समस्या तथा व्यापक जीवन की पूर्णता का संकेत बड़ी सरलता से सुलभ होता है, जो एक साहित्य-कृति की सार्थकता है।

आइये, हम सब भी अधे-कुरूप अलोपी के प्रति देवीजी की मातृ-ममता के साथ अपनी ममता को अञ्जलि देकर विश्व के प्रति स्नेह-तरल होलें।

"आज भी देहली की ओर देखते ही मेरी दृष्टि मानों एक छाया-मूर्ति मे पुञ्जीभूत होने लगती है। फिर धीरे-धीरे उस छाया का मुख स्पष्ट हो चलता है। उसमे मुझे कच्चे काँच की गोलियो जैसी निष्प्रभ आँखे भी दिखाई पडती हैं और पिचके गालों पर सूखे आँसुओं की

रेखा का आभास मिलने लगता है। तब मैं आँखें मल-मल कर सोचती हूँ, नियति के व्यग्य जीवन और ससार के छल से मृत्यु पानेवाला अलोपी क्या मेरी ममता के लिए प्रेत होकर मँडराता रहेगा ?"

देवीजी ने अपनी कहानियों के पात्रों का चुनाव प्रायः जीवन की अव्यवस्थित कुरूपता से ही किया है। मेहतरानी, सबिया, मल्लाह का मलिन बालक घीसा, तरकारी बेचनेवाला अलोपी, गाँव का कुम्हार बदलू आदि ही तो उनके कथा-नायक हैं। पात्रों का शृगार और शारीरिक विन्यास भी उसी श्रेणी का है—"एक दिन मास भर के शिशु नामधारी मासपिड को चीकट से कपड़े मे लपेटे और अपनी नग्नता को मलिनता से ढाँकनेवाली पाँच वर्ष की बचिया को उँगली का सहारा दिये, सबिया मेरे सामने आ उपस्थित हुई। उसका मुख चिकनी काली मिट्टी से गढा जान पड़ता था। पैर मे मोटे-मोटे या चमकहीन गिलट के कड़े उसे कैदी की स्थिति मे डाल देते थे। कुछ कम चौड़े ललाट पर जुड़ी भौहो के ऊपर लगी पीली काँच की टिकुली मे जो शृगार था, वह भटकटैय्या के फूल से घूरे के शृगार का स्मरण दिलाता था।" बस, सभी पात्र सर्वथा इसी तरह से दीन-हीन है, किंतु देवीजी ने अपनी ममतामयी भावना से जो सौन्दर्य उनके जीवन मे देखा है वह उन्ही की प्रतिभा के अनुकूल है, क्योंकि उन्होंने लिखा भी है—"वास्तव मे जीवन सौंदर्य की आत्मा है, पर वह सामञ्जस्य की रेखाओ मे जितनी मूर्तिमत्ता पाता है उतनी विषमता मे नही। जैसे-जैसे हम बाह्य रूपो की विविधता मे उलझते जाते हैं वैसे-वैसे उनके मूलगत जीवन को भूलते जाते हैं।" देवीजी ने सौदर्य की स्थिति सम्पूर्ण जीवन मे मानी है, तभी

तो उन्होंने पात्रों की बाह्य कुरूपता के आवरण को हटाकर उनके जीवन मे अतर्हित उस सौदर्य को खोज निकाला है जिसके फल-स्वरूप वे पाठको की समवेदना के द्वार से बराबर उनके हृदयो मे झाँकते रहते हैं। उनकी कुरूपता उदासी की नही, वरन् करुणा की अधिकारिणी बन जाती है। कलाकार की सृष्टि का यही तो आकर्षण है।

पीड़ितो के प्रति ममता, उपेक्षितो के प्रति उदारता, शोषितो के प्रति सहानुभूति, मानवीय दुर्बलताओं के प्रति सुझाव के साथ क्षमा आदि के अनुपम सम्मिश्रण से जिस साहित्य-सरिता का उद्गम होगा, वह युग-युगों तक अपनी शीतलता से, जीवन से थके सतप्त हृदयो का सिञ्चन करती रहेगी, यह तो सभी मानेगे।

इस पुस्तक मे कवि, गद्यकार तथा आत्म-कथाकार का सस्मरणात्मक समन्वय बड़े ही साधनात्मक ढग से किया गया है। मानव-जीवन वास्तव मे भावना, अनुभूति और सवेदना मे सुगठित होकर ही अपना विकास पाता है। 'अतीत के चलचित्र' मे जीवन की इसी दिशा का सफल सकेत है। सस्मरणो मे अनुभव समय की विस्मृत-व्यथा से सिक्त होकर सामने आते हैं, सम्भवतः इसलिये वे अधिक कोमल तथा मधुर एव मर्मस्पर्शी होते हैं। लेखक का अपनापन इनका प्राण-स्पन्दन होता है, जिसका अविच्छिन्न क्रम महादेवीजी की रचना मे स्वाभाविक रूप से सनिहित है। यही कारण है कि इन सस्मरणों को पढते समय किसी स्थल पर लेखिका की वर्णन-प्रणाली मे बनावटीपन का आभास नही मिलता। स्थितियों के विरोधाभास की उपस्थिति से महादेवीजी सहज ही मनोभावो तथा घटनाओं का ऐसा चित्र उपस्थित कर देती हैं कि

वह सब की ममता का अधिकारी बन जाता है। घटनाओं का इतना तथ्यपूर्ण वर्णन बोध की सीमा मे शीघ्र ही प्रवेश पा लेता है और लेखक के उद्देश्य की सम्भावना का आरोह सामने उपस्थित हो जाता है। शैली का यह अपूर्व कौशल है। महादेवीजी की साधना और उनके संयम ने उनकी गद्य-शैली को इस सुचारुता से सचालित किया है कि उनका व्यक्तिगत सामाजिक विद्रोह कहीं उपदेशात्मक प्रचार का स्वरूप नहीं ग्रहण कर सका, यह तटस्थता ऐसे सस्मरणों की जान है। करुणा, विनोद और व्यग की यह त्रिवेणी मानवता के संतापो को शमन करने का साधना-पूत प्रयास है। करुणा की इस कलित रागिनी मे महादेवीजी के अनुभवों के वे स्वर जिनसे उनका जीवन कभी विकल-विह्वल हुआ है, स्वय भास्वर हो उठे हैं। अस्तु उनकी सारी करुणा, सारा विद्रोह और सारी विचार-धारा का रहस्य पाठको के सामने प्रत्यक्ष हो जाता है। सभी चित्र उनकी मार्मिक भाव-भूमि का सुन्दर परिचय देने मे सर्वथा समर्थ हैं।

'शृखला की कड़ियाँ' महादेवीजी की दूसरी गद्य पुस्तक है। पुस्तक के विषय की प्राण-प्रतिष्ठा उसके समर्पण के शब्दों मे जैसे साकार हो उठी हो—"जन्म से अभिशप्त, जीवन से सन्तप्त, किन्तु अक्षय वात्सल्य वरदानमयी भारतीय नारी को"। इस 'शृखला की कड़ियाँ' में नारी-जीवन के उन अभिशापों का उद्घाटन किया गया है जिन्होने नारी जाति को युगों से मानवता का कलक बना रक्खा है। साथ ही उसकी मुक्ति के साधनों का भी सुझाव दिया गया है। भारतीय नारी की जटिल एवं विषम परिस्थितियों को महादेवीजी ने एक विचारक की भाँति अनेक

दृष्टिकोणों से देखने की चेष्टा की है। उनका विचार है कि "समस्या का समाधान समस्या के ज्ञान पर निर्भर है और यह ज्ञान ज्ञाता की अपेक्षा रखता है। अतः अधिकार के इच्छुक व्यक्ति को अधिकारी भी होना चाहिये। सामान्यत. भारतीय नारी मे इसी विशेपता का अभाव मिलेगा। कही उसमे साधारण दयनीयता है और कही साधारण विद्रोह है, परन्तु सन्तुलन से उसका जीवन परिचित नही।" नारी-जाति के सामाजिक तथा व्यावहारिक जीवन की विवेचना महादेवीजी ने बडी ही कुशलता के साथ की है। अन्याय के प्रति असहिष्णु होने के नाते कभी-कभी उनके नारी विषयक मनोभाव उग्रता की सीमा को स्पर्श करते हुए भी प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका स्वभाव सर्वथा समाज की कुरूपताओं के प्रति सक्रिय उपेक्षा का है। अपने व्यग की मर्मान्तक झडियो से ही वे सामाजिक व्यवस्था के सृजन-बीजों का वपन बड़ी साधना से कर जाती हैं। नारी-जाति की सस्कार-जड़ता, उसकी आर्थिक-हीनता तथा उसके प्रति पुरुप की एकान्त स्वार्थपरता का इतना सजीव स्वरूप उन्होंने सामने रक्खा है कि उससे बड़े पुरुप-पुगवो को भी लज्जा से अपना सिर झुका देना पडता है। मानव-जीवन की सुचारु परिणति स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की सापेक्षता पर कितनी आश्रित है, इस बात का पता हमे 'शृखला की कड़ियाँ' से चलता है।

इन विचारात्मक निबधों की शैली मे केवल निष्प्राण शब्दों की भरमार ही नही, वरन् जीवन की अनुभूतियो की सचाई और साख है। युग-चेतना की माँग-स्वरूप महादेवीजी ने इस विषय को नही अपनाया, यह तो उनके जीवन के विकास-पथ की प्रतिष्ठा है। कही-कही नारी-

जाति की कमजोरियों की ओर से महादेवीजी ने आँख भी छिपाया है, किन्तु इसमे पक्षपात का आग्रह नही, नारी की वेदना की अनुभूत तीव्रता है। क्योंकि मनुष्य जाति की मानसिक उच्चता, महत्ता तथा अन्य सदगुणों पर जब विचार किया जाता है तब पुरुषो से स्त्रियो का स्थान बहुत ऊँचा उतरता है। साधारण जीवन मे भी पुरुष व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना से परिचालित होता है, किन्तु नारी स्वभाव से ही कोमल और परोपकार-प्रिय होती है। किसी देश की सस्कृति के निर्माण और विकास मे नारी प्रकृति की परिपूर्ति है और नर उसका विघातक। जीवाणु के दो भेद होते हैं—पहला अणुलोम परिणामी और दूसरा प्रतिलोम परिणामी। एक निर्माण-शक्ति है और दूसरी विध्वस-शक्ति। कहना न होगा कि नारी सदैव निर्माण प्रिय होती है। वस्तु के निर्माण के पश्चात् उसके विनाश का समय आता है, इस कारण यह निश्चय है कि नारी की उत्पत्ति भी नर से पहले हुई। नर, नारी का अनुन्नत रूप है। जीवन सत्ता का प्रधान आधार नारी है।

पुरुष ने नारी के साथ लगातार अक्षम्य अपराध किये हैं। उसको क्रीड़ा की पुतली, खेल-तमाशे की वस्तु और अपनी धूर्तता का शिकार बनाया है। क्या यह कृतघ्नता नही है? फिर क्या यह सम्भव है कि निसर्ग के साथ छल करने वाला कभी सुखी हो? इतिहास इस बात का साक्षी है कि पुरुषों ने स्त्रियों के साथ बहुत बुरे भेद-भाव किये हैं। नीति, धर्म, कानून, साहित्य और लोकमत सभी क्षेत्रो मे स्त्रियो को दबाने की चेष्टा की गयी है। यदि कहीं स्त्रियो की कोई स्थिति है भी, तो पुरुषों की दासता के लिए, न कि सहयोगिता के लिए। पुरुषों ने जन्म लेते ही

असख्य लड़कियो के गले घोट डाले, अगणित स्त्रियो को धर्म के नाम पर जला दिया, किन्तु नारी ने माता बनकर उनका पोषण ही किया है। यदि कही स्त्रियाँ भी इस नारी-विरोधी नर-सतति का गला घोटना प्रारभ करती, तो आज विश्व की क्या दशा होती ? अतएव यह कहना अत्युक्ति नही होगी कि नारी स्वभाव से देव है तो नर शैतान। पुरुष, स्त्री को अपना भोग्य-पदार्थ ही मानता है, इससे कुछ अधिक नहीं। इतिहास की इस चेतावनी से प्रत्येक समझदार व्यक्ति को इस निश्चय पर पहुँचना चाहिये कि ससार के भावी विकास के लिये और व्यापक जीवन को अधिक सुखी और शान्तिमय बनाने के लिये स्त्रियो का उचित अधिकार पाना अत्यन्त आवश्यक है। स्त्री-पुरुष सम्बन्धी ऐसी ही व्यवस्थाओं, विफलताओं और विवशताओं को सामने रखकर साहित्य मे यह सामाजिक सजीवन उपस्थित किया गया है, अस्तु इसका तीखापन स्वाभाविक है।

मानव-जीवन मे स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध-विषयक उनके विचार उल्लेखनीय हैं—"किसी किसी की धारणा है कि अपने सवर्तोन्मुखी विकास के उपरान्त स्त्री का, पर्वत के शिखर के समान उच्च परन्तु उसी के समान एकाकी हो जाना निश्चित है, क्योकि तब अपने जीवन की पूर्णता के लिये उसे किसी सगी की अपेक्षा ही न रहेगी। परन्तु वास्तव मे यह धारणा प्रत्यक्ष सत्य का उल्लघन कर जाती है। अपने पूर्ण से पूर्ण विकास में भी एक वस्तु दूसरी नही हो सकती, यही उसकी विशेषता है, अतः उससे जो भिन्न है उसका अभाव अवश्यम्भावी है। अपने पूर्ण से पूर्ण गौरव से गौरवान्वित स्त्री भी इतनी पूर्ण न होगी कि पुरुषोचित

स्वभाव को भी अपनी प्रकृति मे समाहित कर ले, अतएव मानव-समाज मे साम्य रखने के लिए उसे अपनी प्रकृति से भिन्न स्वभाव वाले का सहयोग श्रेय होगा। इस दशा मे प्रतिद्वन्द्विता सम्भव नही।" इसी प्रकार के अनेको ऐसे स्थल हैं जहाँ लेखिका ने शान्त और तटस्थ भाव से समाज मे स्त्री-पुरुष सम्बन्धो की सतुलित विवेचना की है। वास्तव मे सामाजिक जीवन की नीव अर्थ-विभाजन और स्त्री-पुरुष सम्बन्ध की सुचारुता पर ही खड़ी है, इन प्रश्नों का सम्यक् सुझाव महादेवीजी ने स्पष्टतया सामने रखा है जो आदरणीय और अनुकरणीय है। इन निबधों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि अब तक नारी-जाति की समस्याओ का उद्‌घाटन पुरुषो ने अपने दृष्टिकोण से किया था, किन्तु इनसे प्रथम बार एक नारी के द्वारा उन समस्याओ का स्पष्टीकरण सामने रखा गया है, जिसकी सर्वमान्यता से इन्कार नही किया जा सकता।

भावात्मक तथा विचारात्मक गद्य के साथ-साथ महादेवीजी ने विवेचनात्मक गद्य भी लिखा है। कवि यदि भावनाओं का गायक है तो आलोचक उनका निरीक्षक, इसलिए कवि भाव-प्रधान तथा आलोचक विचार-प्रधान होता है। महादेवीजी ने साहित्य के गद्य-पद्य दोनों स्वरूपो को अपनी साधना का सहयोग दिया है, अस्तु उनकी साहित्यिक विवेचना उनके कवि तथा विचारक के समुचित और सतुलित सामञ्जस्य का सुफल है। 'महादेवी का विवेचनात्मक गद्य' पुस्तक इसका प्रौढ प्रमाण है। साहित्य के सनातन और स्थायी सत्यों का निष्पक्ष निरूपण इन विवेचनाओं मे जिस परिमार्जित एवं प्राञ्जल, सरस, स्पष्ट शैली में हुआ है, वह अन्यत्र सहज-सुलभ नहीं। विचारक महादेवी का एक

संकेत, एक शब्द और एक वाक्य पाठकों के अन्तःकरण में अनुभूति तथा चिंतना की समवेदनीय आकुलता जगाने में समर्थ है, इसमें सन्देह नहीं। उनके सुलझे विचारों की शक्तिमत्ता, उनके सूक्ष्म निरीक्षण की निष्ठा, उनके आत्मानुभूत सिद्धान्तों की प्रतिपादना और उनकी जीवन-दर्शन की व्यापकता से संरक्षित और संचालित उनका आलोचक सूक्ष्म और स्वस्थ साहित्यिक अभिप्रायों के उद्बोधन में अद्वितीय है, यह मेरी दृढ धारणा है। ठीक भी है, जीवन की स्वाभाविक संयोजना, सौन्दर्य की सात्विक आराधना तथा साहित्य की सहेतुक साधना के लिये आत्मा के जिस पूर्ण परिष्करण की अपेक्षा रहती है वह महादेवी जैसे कलाकारों की अपनी चीज है। सम्भवतः इसी कारण संसार के श्रेष्ठ साहित्य और ज्ञान में कलाकार का व्यक्तित्व मूल की भाँति समाया रहता है।

महादेवी की विवेचनाओं में आलोचना के 'टेकनीक' के अतिरिक्त अन्तस्तल में प्रवेश करने वाली मार्मिक साहित्यिक सूझ और उसके 'बैकग्राउंड' में प्रतिफलित होने वाली स्निग्ध, सुन्दर सहृदयता की जो अपूर्व अभिव्यञ्जना हुई है, वह हिन्दी आलोचना-पद्धति के विकास में एक निश्चित पथ-प्रदर्शन करने में समर्थ होगी। काव्य की भाँति हिन्दी का गद्य साहित्य भी महादेवी की गद्य-गरिमा से गौरवान्वित है, इसे कौन नहीं जानता ?

आधुनिकतम उपन्यास का दृष्टिकोण

इस घोर सघर्ष के युग मे भी, जब कि सारे ससार मे विनाश और विध्वस का नग्न नाच हो रहा है और प्रतिदिन हज़ारो आदमी रण-चण्डी की बलि होकर कौवों और कुत्तो की मौत मर रहे हैं, बीसवीं सदी के पूर्ण रूप से सुरक्षित नगरो मे रहते हुए भी सहस्रों नर-नारी और निरपराध बच्चे चरम अरक्षित अवस्था में अविवेकी बमवर्षको द्वारा तुच्छ कीड़ों की तरह पीसे और कुचले जा रहे हैं—ऐसे भयकर और तूफानी युग मे भी जब हम अपने साहित्य के ध्वजाधारियो को रात-दिन के जीवन के यथार्थवादी पहलू की ओर से मुँह मोड़ते देखते हैं, तो केवल परम आश्चर्य ही नही, आन्तरिक दुःख भी होता है। समस्त विश्व की सत्ता को डगमगाते देखने पर भी हमारे साहित्यिक पडे अभी तक जीर्ण आदर्शवाद को जकड़े बैठे हैं और उसी का नारा बुलन्द किए चले जा रहे हैं, इससे वास्तव मे मानव-स्वभाव के एक विचित्र रूप का रहस्य हमारे सामने आता है। सिन्दबाद जहाज़ी का जहाज़ जब एक बार एक ज़बर्दस्त तूफान के धक्कों के कारण डूब गया, तो वह बड़ी मुश्किल से डूबता-उतराता हुआ एक ऐसे स्थान पर पहुँचा, जो उसे एक द्वीप की तरह दिखाई दिया। उस 'द्वीप' पर उतरने के बाद उसने अपने को बहुत भाग्यशाली समझा और ईश्वर को इस बात के लिए धन्यवाद दिया कि वह एक सुरक्षित स्थान पर पहुँच गया। चारों ओर अशान्त समुद्र की तूफानी तरगे विकट शब्द से तर्जन-गर्जन कर रही

थीं, पर सिन्दबाद उस 'टापू' मे स्थिर भाव से निश्चिन्त होकर बैठा हुआ था। किन्तु उसकी यह निश्चिन्तता अधिक समय तक स्थायी नहीं रही। अचानक उसे ऐसा मालूम हुआ जैसे सारा 'टापू' भयकर भूकम्प के कम्पन से हिल उठा है और सारी ज़मीन उलटने को है। कुछ समय बाद उसे असली बात का पता लगा और वह बुरी तरह घबरा उठा। उसके आगे यह रहस्य खुला कि जिसे वह 'टापू' समझे था, वह वास्तव में एक विराट् मत्स्य-जातीय जीव था। अपने को पहले से भी बड़े खतरे मे जानकर सिन्दबाद फिर से समुद्र मे कूद पड़ा। हमारे साहित्य-जगत् के ध्वजाधारीगण अपने चारों ओर के प्रलयकर तूफान के बीच मे ठीक उसी प्रकार के 'टापू' पर आसन जमाए हुए अपने को सुरक्षित समझे बैठे हैं। चारों ओर के प्रलय-पयोधि-जल के बीच मे वे जिस पौराणिक मत्स्य-जातीय विराट् जीव की पीठ पर बैठे हुए हैं उसे वे साहित्य का भी पीठस्थान समझे बैठे हैं और वहाँ पर से निश्चिन्त और निर्द्वन्द्व भाव से यथार्थवादियो पर कीचड़ उछाल कर पोपपन्थी आदर्शवाद के लेक्चर पर लेक्चर पिलाए जा रहे हैं। ऊँटाकार पक्षी-विशेष की जाति से प्रेम रखने वाले इन महापुरुषों को एक बार पूरी ताक़त से इस बात की चेतावनी देने का समय आ गया है कि उनकी स्थिति एकदम अरक्षित है और समय रहते यदि वे न सँभले, तो उन्हे निश्चित रूप से तूफानी समुद्र मे गर्क हो जाना पड़ेगा।

आश्चर्य इस बात पर अधिक होता है कि यथार्थवाद से—प्रतिदिन और प्रतिपल के घोर सघर्षमय जीवन के कठोर सत्य से—केवल पिछले युग के आदरणीय गुरुजन ही सशकित नही हो उठे हैं, बल्कि बहुत-से

नयी पीढ़ी के सुकुमार-कल्पना-प्रिय तरुण साहित्यिक भी भड़कने लगे हैं। यथार्थ से भागने वाले तरुण साहित्यिको मे विशेषकर वे लोग हैं, जिनके व्यक्तित्व का पालन-पोषण छायावादी कविता के ललित-ललित और कोमल-कोमल कुसुमों के कलित केसर, पुलकित पराग, मधुर मधु और सरस सुवास द्वारा हुआ है। फल-स्वरूप इन तरुणों के अलस-लालस माया से आच्छन्न हृदयों मे एक ऐसा अफ़ियूनी नशा छा गया है, जो जीवन की किसी भी यथार्थता को अपने पास फटकने नही देना चाहता और भरसक उसका प्रतिरोध करता है। इस ललित-भावानुगामी दल की सख्या दिन-पर-दिन घटती जा रही है, इसमे संदेह नही ; पर फिर भी उसका बहुत-कुछ प्रकोप अभी तक जारी है।

एक और तरुण-वर्ग है, जो जीवन की कठोर वास्तविकता का ज़बर्दस्त प्रतिरोधक है। इस वर्ग को हम देवदास-पथी सम्प्रदाय कहना उचित समझते हैं। (स्मरण रहे, यह 'देवदास' 'देवदासी' का पुल्लिग-वाची शब्द नही है।) जब से शरच्चन्द्र के 'देवदास' नामक प्रसिद्ध उपन्यास ने फिल्म के रूप मे हिन्दी-जगत् मे प्रवेश किया, तब से हमारे तरुण साहित्यिको के एक बहुत बड़े भाग के भावना-लोक मे एक निराली ही मादकता छा गयी, जो छायावादी युग की अलस-लालस-माया से क़ई गुना अधिक तीव्र और साहित्य के व्यापक कल्याण की दृष्टि से अत्यन्त घातक सिद्ध हुई। 'देवदास' मे यथार्थवाद का ढाँचा अवश्य वर्त्तमान है ; पर वह ढाँचा केवल ढाँचा ही रह गया है और उसके शरीर तथा आत्मा का निर्माण छायावादी युग के सस्ते 'रोमाटिसिज्म' के मूल उपादानों से हुआ है। 'रोमास' की पुट आपको नवीनतम युग

के घोर यथार्थवादी—कठोर वास्तविकतावादी—उच्चकोटि के उपन्यासो मे भी मिलेगी (सच तो यह है कि प्रारम्भिक काल से लेकर वर्त्तमान समय तक बिरला ही कोई ऐसा महत्त्वपूर्ण उपन्यास देखने मे आयगा, जिसमे नर-नारी के पारस्परिक प्रेम की समस्या किसी-न-किसी रूप मे न ली गई हो) , पर 'देवदास' के तथा आधुनिकतम युग के चरम यथार्थ-वादी उपन्यासों के 'रोमासो' मे एक मूलगत अन्तर है। 'देवदास' का आत्मलीन, अन्तःसारहीन, चारित्रिक बल से एकदम रहित, भावुकता के साबुनी बुदबुदो से भरे हुए हृदयवाला नायक जब अपनी मनचाही प्रेमिका को न पा सकने के कारण पतन के गढे मे गिरता है और गन्दे वेश्यालय को 'कवित्वपूर्ण' मधुशाला बनाकर अपनी ग़मगीनी को बोतलों मे डुबाने लगता है, तो लेखक पूरी ताक़त से उसका साथ देता है और उसके प्रति पाठको की भी समवेदना जगाने का पूर्ण प्रयत्न करता है। चरित्रहीनो के प्रति सहानुभूति उभाड़ने की चेष्टा भारत मे शरत्-कालीन और यूरोप मे सोवियत्-पूर्व-रूस-कालीन कवियो और औपन्यासिको की विशेषता रही है। फिर भी रूसी लेखकों ने अपनी इस प्रकार की प्रवृत्ति और चेष्टा को एक सीमा के आगे नही बढ़ने दिया था , पर शरच्चन्द्र का एकमात्र उद्देश्य ही जैसे निकम्मे, आलसी, अहभावापन्न और चरित्र-हीन नायकों के पतन को महिमान्वित करने का रहा है। इस दृष्टिकोण से आधुनिकतम कथाकार के दृष्टिकोण मे मूलगत विरोध पाया जाता है। आधुनिकतम कलाकार यदि अपनी कथाओ मे चरित्रहीन और रोमासवादी पात्रों की अवतारणा करता है तो केवल इसलिए कि वह अपने मनोवैज्ञानिक अस्त्र से उनकी आत्मा का स्तर-प्रति स्तर खोलकर

उनके घोर अहभावपूर्ण 'कवित्वमय' प्रेम का पोल-प्रकाश करना चाहता है, उनके रोमास की इन्द्रजाली रगीनी से पाठको की आँखों में चका-चौंध पैदा करना वह किसी प्रकार भी उचित नही समझता। औपन्यासिक आदर्श का यह दृष्टिकोण एकदम नया, सच्चे अर्थों में यथार्थवादी और समाज की सामूहिक आत्मा के परिष्करण के लिए परम मागलिक है। चूँकि यह मूलतः नया दृष्टिकोण पूर्वोक्त देवदास-पथी सम्प्रदाय के अलस-विलासितामय स्वप्न को, भग्न-प्रेम की मधु-मोहमयी प्रतिक्रिया-रूपी ख़ुमार को अत्यन्त निर्ममता के साथ तहस-नहस करता है, इसलिए उस वर्ग के बीच मे वह कभी लोकप्रिय नही हो सकता।

देवदास की उच्छृङ्खलता के प्रति समवेदनशीलता का रस उत्पादन करके और उस रस पर ख़मीरा चढाकर उसे एक विशेष वर्ग के पाठको के बीच मे वितरित करके 'देवदास' के लेखक ने जो मतवालापन फैलाया, वह किसी भी बाज़ारू मधुशाला के मतवालेपन से किसी क़दर कम नही था। उस रस के छायावादी और हालावादी रोमाटिक रसो के साथ मिलने से जो उग्र 'काकटेल' तैयार हुआ, उसे पान करके हिन्दी के बहुत-से साहित्य-प्रेमी उन्मत्त हो उठे। कुछ लोग तो देवदास के ऐसे कट्टर अनुयायी बन गये कि अपने बाज़ारू प्रेम के भग्न होने की कल्पना देवदास के प्रेम की असफलता से करके उसी की तरह वेश्यालयों मे मधुपान करने लगे और केवल इतनी ही बात से अपने को समाज-दलित, अन्याय-पीडित, शोषित और महान् प्रतिभाशाली उपेक्षित कलाकार समझने लगे। हमारे एक सुप्रसिद्ध कवि-हृदय आलोचक बन्धु तो देवदास के 'पतन की महानता' से इस क़दर

प्रभावित हुए कि उन्होने अपना उपनाम ही 'देवदास' रख लिया। इस नाम से उनकी कई चीजे छपी हैं। केवल यही नही, उन्होने देवदास पर एक कविता ही लिख डाली, जिसकी कुछ पक्तियाँ इस प्रकार हैं :—

हे देवदास, हे चिर-उदास,
पारुल के उर के महोच्छ्वास!
तुम महाशून्य के अधिवासी
क्यों भवसागर मे लिया वास?

किस अमृत-लाभ के लिए बन्धु
कर गये गरल पर गरल पान?
हे तप्त, शप्त, क्या मिला तुम्हे
केवल विषाद का महादान?

इस ज्वाल-सिन्धु मे कौन आह
चल सका अरे ले मृदुल प्राण?
हे सरल हृदय, ले तरल प्रणय
मिल सका किसे कब कहाँ त्राण?

चिर-प्रेम-चिता की शय्या पर
लपटों ने तुमसे रचा रास,
वह करुण कथा, वह तरुण व्यथा
बन गयी नियति का एक हास।

कविता के भावोद्गार बडे मार्मिक रूप से प्रकट किए गये हैं, यह मानने मे हमे कोई आपत्ति नही है। हमारा उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि एक अत्यन्त क्षीण-प्राण, दुर्बल-हृदय, असच्चरित्र नायक के प्रति अन्ध

मोहाकर्षण का कैसा तूफानी आवेग हमारे भावुक, कवि-प्राण आलोचक बन्धु ने प्रदर्शित किया है। शरत् के चरित्रहीन नायकों के प्रति यह दृष्टिकोण केवल पूर्वोक्त कवि-हृदय आलोचक मित्र का ही नही, बल्कि हिन्दी के अधिकाश तरुण साहित्यिकों का भी रहा है। इस मनोभाव ने कैसे घोर अस्वास्थ्यकर वातावरण मे हिन्दी-साहित्याकाश को कुछ वर्षों से छा रखा है, अनुभवियों को इस विषय मे कुछ बतलाने की आवश्यकता न पड़ेगी। हम पाठकों से इस बात पर ठण्डे दिल से विचार करने का अनुरोध करेंगे कि जो नायक इस कदर दुर्बल है कि इच्छित प्रेमिका को प्राप्त न कर सकने के कारण शराब के नशे से बेहोश होकर चौबीसों घण्टे वेश्यालयों मे पड़ा रहता है, उसका यह पतन क्या वास्तव मे इतना महान् और काव्यात्मक है कि उसे गौरवान्वित करके उस पर करुणा-विगलित आँसुओं की अविरल धाराएँ बहाई जायँ? जिस नायक मे इतनी शक्ति और समझदारी नही है कि वह अपने भग्न-प्रेम की अनुभूति को समुन्नत रूप देकर उसे नैतिक विकास तथा सामाजिक कल्याण की ओर नियोजित करे, जो अपने विफल प्रेम की प्रतिक्रिया के कारण पतन के निम्नतम गढे मे गिरकर आत्म-विनाश को ही पौरुष की चरम सीमा समझता है, वह क्या सचमुच आदर्श-प्रेमी माने जाने योग्य है, या सामाजिक उद्यान के लिए विष-वृक्ष के बीज की तरह घातक है और समूल नष्ट कर दिए जाने योग्य है? यथार्थवादी उपन्यासो मे ऐसे अधम नायकों की अवतारणा होने मे हमे कोई आपत्ति नहीं है, (बल्कि सच पूछा जाय तो आधुनिकतम उपन्यासो मे हमे अधिकतर असच्चरित्र और नरक के कीड़ों के तुल्य गलित नायको की ही आशा करनी होगी।) आपत्ति केवल

इस बात पर है कि 'पापी के प्रति करुणा' के नाम पर ऐसे ख़तरनाक जीवों के पतन को महिमान्वित न किया जाय, बल्कि उनके अत्यन्त जटिल और विकृत अन्तस्तल के प्रति स्तर मे छिपे हुए घोर व्यक्तिवादी, आत्म-कामी और असामाजिक सस्कारों की पोल खोलकर समाज को इस बात की चेतावनी दी जाय कि इन विषवृक्ष के बीजों और नरक के कीड़ों से सावधान रहकर वह अपनी रक्षा करता रहे। ऐसे व्यक्ति न केवल पतन-प्रेमी होते हैं, बल्कि—जैसा कि कहा जा चुका है—अत्यन्त आत्मलीन तथा निपट स्वार्थी भी होते हैं। देवदास पार्वती से 'प्रेम' करता था, सन्देह नहीं, पर वह कभी पार्वती के मार्मिक प्रेम का महत्त्व उसके (पार्वती के) दृष्टिकोण से—बल्कि सच पूछिये तो किसी भी दृष्टिकोण से—नही समझ पाया। वह इस कदर आत्मगत और अहम्मन्य था कि पार्वती के साधा-रण से व्यग का मर्म न समझकर उसने बाँस की लकड़ी के गाँठदार सिरे से उसके कपाल पर ऐसे ज़ोर से आघात किया कि उसका कपाल फट गया और रक्त की धारा बहने लगी। अपनी सामाजिक सत्ता को बनाए रखने के लिए उसने पार्वती को इस बुरी तरह से अपमानित करके ठुकराया, जिसका वर्णन नहीं हो सकता। अन्त मे वह इधर का रहा न उधर का—चीतपुर के नरक मे ग़र्क हो गया। उसके चरित्र का अध्ययन भली भाँति करने पर इस बात पर तनिक भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि यदि किसी घटनाक्रम से पार्वती के साथ उसका विवाह हो भी गया होता, तो वह उससे ऊब कर निश्चित रूप से चीत-पुर की गन्दी नालियो में बहनेवाले कीड़ों का साथ देता। किन्तु यह सब होने पर भी लेखक ने इस हर तरह से भ्रष्ट नायक के प्रेम को—

परोक्ष रूप से—स्वर्गीय बताया है और उसके पतित चरित्र पर कोमल कवितामयी करुणा की इन्द्रजाली रंगमयता का ऐसा प्रकाश डाला है कि प्रत्येक पाठक उसे उसी सम्मोहक रंगीन चश्मे से देखने लगता है।

हिन्दी-साहित्य-जगत् मे गुलाम मनोवृत्ति अभी तक किस क़दर छाई हुई है, इस बात का ज्वलन्त प्रमाण केवल इसी एक बात से मिल जायगा कि शरत् के जिन उपन्यासो मे (और ऐसे उपन्यासों और कहानियो की संख्या काफी है) भ्रष्ट-चरित्रो की महिमा गाई गयी है, उनका स्वागत हमारे कला-पारखी पण्डितो ने अपनी लम्बी-लम्बी भुजाओं को बढाकर किया है, और हिन्दी के जिन नव-प्रकाशित उपन्यासो का एकमात्र उद्देश्य अहवादी, आत्मकामी और पतित पात्रों के चरित्र का विश्लेषण मनोवैज्ञानिक एक्स-किरणो द्वारा करके उन पर निर्मम रूप से कशाघात करना और उन चरित्रहीन नायको की निष्ठुर चीर-फाड़ द्वारा समाज का परिष्करण करके नैतिक स्वास्थ्य का स्थापन करना है, उनकी निन्दा के लिए दल-के-दल संगठित होते चले जा रहे हैं, और वह निन्दा भी इस आधार पर कि वे उपन्यास 'भ्रष्ट' हैं—केवल इसलिए कि उनमे भ्रष्ट-चरित्रो की अवतारणा की गयी है! भ्रष्ट-चरित्रो की अवतारणा किस उद्देश्य को सामने रखकर की गयी है, इस बात को जानते हुए भी हमारे पण्डितगण न जानने का ढोग रचना चाहते हैं। उनके इस रुख़ के मूल मे कौन-सी मनोभावना काम कर रही है, इस बात पर प्रकाश डालने का न तो यह उपयुक्त अवसर है और न हमारा उद्देश्य ही।

एक उपन्यास है, जिसका उद्देश्य एक आत्मपरायण, दुश्चरित्र

नायक के पतन और विकृति को गौरवान्वित करने का है, उसकी प्रशंसा के पुल बाँधे जाते हैं और उसे कलापूर्ण और समाज के लिए कल्याणप्रद बताया जाता है। दूसरा उपन्यास है, जिसमें समाजघाती पात्रों के चरित्र का मनोवैज्ञानिक निरूपण करके उनका यथार्थवादी चित्र सामने रखा जाता है और उनके विषैले संसर्ग से बचकर अथवा उन्हें ठीक रास्ते पर लाकर समाज किस प्रकार सच्ची प्रगति की ओर अग्रसर हो सकता है, इस बात का सुझाव पेश किया जाता है। वह दूसरा उपन्यास इसी कारण से निन्दनीय समझा जाता है। आज यदि कोई यक्ष युधिष्ठिर की तरह हमसे भी प्रश्न करता कि 'किमाश्चार्य परम्'' तो हम उत्तर में यही बात दुहराते।

यह बात नहीं कही जा सकती कि हमारे वयस्क पण्डितों अथवा तरुण पारखियों में गुण-दोष-विवेचन तथा विशेषताओं को छाँटने और परखने की भेदाभेदमयी दृष्टि नहीं है। यह दृष्टि उनमें है और खूब पैनी है। पर कुछ ऐसे विरोधी संस्कार उनके मन पर पड़े हुए हैं, जो कभी कभी उनके विवेक पर भी विजय पा लेते हैं। इसी कारण साहित्य में किसी भी नये दृष्टिकोण का महत्त्व स्वीकार करने के लिए वे तैयार नहीं होते, और तब तक उसका भरसक प्रतिरोध करते रहते हैं जब तक समय और वातावरण बलपूर्वक उन्हें मानने को बाध्य न करें। इस प्रतिरोधी मनोवृत्ति ने वर्षों से हिन्दी-साहित्य की प्रगति के मार्ग में कैसे भयंकर रोड़े अटकाये हैं और अभी तक अटकाती चली जाती है, इसके कारण कैसा घोर अहित आज तक हिन्दी का हुआ है और होता चला जा रहा है, अनुभवियों से यह बात छिपी न होगी। अन्य प्रान्तीय

अथवा अन्य देशीय साहित्यों के साथ आज भी हिन्दी-साहित्य कन्धे-से-कन्धा भिड़ाने मे जिस सकोच का अनुभव कर रहा है, उसमे प्रतिभा-शाली साहित्य-रचयिताओं का दोष उतना नही, जितना हमारे प्रतिभा-शाली विवेचको का प्रतिरोधी सस्कार है, यह बात दुःख के साथ स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

देवदास-पंथियो के अतिरिक्त एक और दल हमारे साहित्य- समाज मे है, जो साहित्य मे यथार्थवाद की महत्ता स्वीकार तो करता है, पर केवल एक अत्यन्त सकीर्ण सीमा तक। इस स्कूल के मतानुसार किसी उच्च-कोटि के उपन्यास मे वास्तविक जीवन के सघर्ष-विघर्ष, प्रेम और प्रति-हिंसा, घृणा और विद्वेष, पीड़न और निर्यातन का तूफानी विस्फूर्जन नही रहना चाहिए—ग़रज़ यह कि जीवन के मूल केन्द्र मे जो महत्त्वपूर्ण घटनाचक्र कभी एक झीने पर्दे की ओट मे और कभी खुले तौर पर सघ-टित होते रहते हैं, जिनके बिना जीवन का कोई अर्थ ही नही रह जाता, उनसे एकदम मुँह मोड़ लेना चाहिए, और केवल महा-जीवन-प्रवाह के किनारे पर जो तत्त्व निष्क्रिय और निश्चल रूप से वर्त्तमान हैं, उनको लेकर तटस्थ दार्शनिक भाव से खेलते रहना ही ऊँचे दर्जे की औपन्या-सिक कला है। इस मत के अनुयायी यह बात भूल जाते हैं कि वे अपने अनजान मे छायावादियों तथा देवदास-पथानुगामियों से भी अधिक भय-कर रूप से पलायन-वृत्ति से विवश है। यदि वे शान्त भाव से आत्म-विश्लेषण करे, तो अपने मानसिक चक्रजाल (Complex) से वे स्वय भयभीत हो उठेगे। इन तटस्थतावादियों को चाहिए, वे अपने इस भय-कर भ्रम को जड से उखाड़ डाले कि उच्चकोटि की कला शान्त, संयत

और तटस्थ होती है और केवल मौन इगितों से अपनी बात कहती है। साहित्य और कला के आदि-युग से लेकर आज तक जितने भी प्रकार की उच्चतम श्रेणी की कला-कृतियाँ काल की अग्नि-परीक्षा मे खरी उतरने के बाद अपना महत्त्व प्रमाणित कर पाई हैं, उन सब ने जीवन के केन्द्र मे गरजने-तरजने और फुफकार मचानेवाले तूफानी घटनाचक्रों को परिपूर्ण साहस के साथ अपनाया है। यही कारण है कि साहित्यिक क्रान्तियों की कितनी ही लहरें आयी और गयी, किन्तु घटनाचक्रवादी शेक्सपियर जहाँ-का-तहाँ स्थित है। रूस के बडे-बडे औपन्यासिक महारथी विश्व-साहित्य के रगमच पर आये, पर टाल्सटाय और डास्टाएव्स्की, और बहुत-कुछ अशो मे गोर्की इस प्रलय-बाढ के युग मे भी अपनी सत्ता पूर्ववत् क़ायम रखने मे समर्थ हुए, और तटस्थतावादी तुर्गेनिव का साहित्य विगत महायुद्ध के पहले ही विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो गया। कारण यह है कि तुर्गेनिव सच्चा कलाकार होने पर भी तटस्थ रह गया —अर्थात् जीवन के तट पर ही स्थित रह कर कोरी काव्य-कल्पना मे रमा रहा और कला को केवल कला के लिए मानने की सीमा तक ही बँधा रहा। पर डास्टाएव्स्की आदि प्रमुख महारथियो ने जीवन-स्रोत के भँवर के बीच मे गोते लगाकर तरगों की उथल-पुथल के जो अनुभव प्राप्त किये, उन्हें कला का रूप दिया, और केवल इतने से ही सन्तुष्ट न रहकर उन्होंने जीवन के तूफानी सागर मे भटके हुए पथिकों को निश्चित और कल्याण-प्रद लक्ष्य सुझाया। जीवन के तट पर स्थित रहकर जीवन और उसकी समस्याओं के साथ खेलनेवाले लेखक— चाहे वे तुर्गेनिव के चचेरे भाई हों, चाहे शॉ के, चाहे जेम्स जॉइस

के—'कभी काल की अग्नि-परीक्षा मे साबूत नहीं रह सकते, भले ही किसी एक युग की सीमाबद्धता तक उनकी तूती बोल उठे, बल्कि स्वयं अपने ही युग मे ऐसे लेखक स्वय अपने भक्तों से (अज्ञात रूप से) घृणा ताथा अवज्ञा पाने लग जाते हैं। शॉ ने अपने युग मे बड़ी प्रतिष्ठा पायी और धन भी पाया, पर स्वय उसके 'भक्तो' ने परोक्ष रूप से समय-समय पर जैसा मजाक उसका उडाया, वैसा किसी दूसरे जीवित या मृत लेखक का नही उड़ाया। कारण वही है, जो हम बतला चुके हैं। शॉ ने कभी जीवन की उथल-पुथल के बीच मे पाँव नही रखा और केवल किनारे पर स्थित रहकर वह जीवन की समस्याओ के साथ 'तटस्थ' भाव से खेलता रहा—जीवन सघर्ष के बीच मे आए हुए व्यक्तियो को वह कभी बच्चों की तरह मुँह चिढाता रहा और कभी प्रमादियो की तरह उनपर व्यग कसता रहा। शॉ जब प्रतिष्ठा की चोटी पर पहुँचा हुआ था, उसी वक्त मर चुका था—सम्मान की तड़क-भड़क के ऊपर के रगीन मायावरण के भीतर जिन लोगों की आँखे पैठने की सामर्थ्य रखती हैं, उनसे यह बात छिपी न होगी।

असल बात यह है कि न केवल-मात्र घटनाचक्रों की बहुलता से कोई औपन्यासिक रचना श्रेष्ठ मानी जा सकती है, न घटनाओं के वर्जन, कोरे मनोवैज्ञानिक विश्लेषण और तटस्थ दार्शनिक विवेचन से। घटनाचक्र आलेक्साँद्र दुमा, ओपेनहाइम और एडगर वालेस के उपन्यासो मे पूर्ण प्रवेग के साथ पाये जाते हैं; पर कभी किसी साहित्य-विवेचक ने कलाकारों की श्रेणी मे उनकी गिनती नही की। किन्तु ह्यूगो और डास्टाएव्स्की के उपन्यासों मे घटनाचक्रों की इफरात रहते हुए भी वे ससार के सर्वोत्तम

औपन्यासिक माने गये। दोनो श्रेणी के लेखकों के बीच इस मूलगत अन्तर का कारण यह है कि पहली श्रेणी के लेखकों ने घटनाचक्रों का उपयोग केवल अपनी कथाओं को दिलचस्प बनाने के लिए किया और दूसरी श्रेणी के लेखकों ने जीवन-संघर्ष की भयंकरता, जीवन के चक्रजाल की जटिलता और मानव-हृदय के उलटे-सीधे मनोविकारों की मार्मिकता प्रदर्शित करके मानवता के लिए जीवन का आदर्श-द्वार मुक्त करने और सामूहिक कल्याण का पथ सुझाने के उद्देश्य से उनको अपने कथानक मे सन्निविष्ट किया। यदि व्यक्तिगत विद्वेष और विरोधी संस्कारों को कुछ समय के लिए हटाकर इस बात पर तनिक ग़ौर से विचार किया जाय, तो एक भयकर ग़लतफहमी हमारे कला-प्रेमियों के मस्तिष्क से दूर हो सकती है।

आधुनिक युग के सच्चे यथार्थवादी कलाकार का पथ 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया' (सान पर चढ़े हुए छुरे की पैनी धार के समान तीखा और दुर्गम) है। उस पर जीवन के मर्मस्थलों के फोड़ों का आपरेशन करके जीवन को स्वस्थ और सबल बनाने का बहुत महत्त्वपूर्ण उत्तर-दायित्व है। आपरेशन मे जरा भी चूक हुई नही कि रोगी की मृत्यु निश्चित है। आज तक बहुत से नीमहकीमों ने हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र मे इस भारी जिम्मेदारी के काम को वेधड़क अपने क़ातिल हाथों मे लेकर साहित्य का जो घोर अहित किया है, उसकी क्षतिपूर्ति होने मे अभी कई वर्ष लगेंगे। फिर भी इधर कुछ नये औपन्यासिको ने किसी क़दर अच्छी 'ट्रेनिंग' प्राप्त करने के बाद इस ओर क़दम बढाये हैं और अपनी योग्यता का अच्छा प्रदर्शन किया है। ये शुभ लक्षण हैं।

अन्त मे हम अपने कला-प्रेमियो से यह विनम्र प्रार्थना करेगे कि वे अपने प्रतिरोधी सस्कारो को त्याग कर औपन्यासिक कला के नये आदर्श पर निष्पक्ष और गम्भीर भाव से विवेचन करे। कोई उपन्यास चाहे घटनाचक्रपूर्ण हो, चाहे शान्त और गम्भीर विवेचना से युक्त; चाहे उसमे मार्मिक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण किया गया हो, चाहे उसे सरल उपाख्यान का रूप दिया गया हो, इन सब बातो से कुछ आता-जाता नही। देखना यह होगा कि लेखक की रचना ठोस जीवन के केन्द्र पर स्थित है या नही, जीवन के मर्म को छूती है या नही और कठोर वास्तविक जीवन-सघर्ष के माध्यम से ही रुग्ण जीवन का उपचार सुझाने मे समर्थ है या नही।

प्रेमचन्द की कला और मनुष्यत्व

जब प्रेमचन्दजी ने पहले-पहल हिन्दी मे लिखना प्रारम्भ किया था, तब मैं एक स्कूली लडका था; पर तत्कालीन हिन्दी साहित्य की सभी सामयिक बातों के सम्बन्ध मे ख़ासी जानकारी रखता था। उन दिनों प्रेमचदजी की कहानियाँ अक्सर 'सरस्वती' मे निकला करती थी। उस युग मे हिन्दी मे कहानियो की जो मिट्टी ख़राब की जा रही थी उसे देखते हुए मेरे आश्चर्य और हर्ष का ठिकाना न रहा—जब मैने देखा कि अकस्मात् एक ऐसे लेखक का आविर्भाव हुआ है जिसके भाव, भाषा और शैली मे निरालापन और चमत्कार के अतिरिक्त एक ऐसी विशेषता वर्तमान है जो अपनी सहृदयता से बरबस पाठक के हृदय को मोह लेती है। तब से मै जिस किसी भी पत्र मे प्रेमचन्दजी की कहानी छपी हुई पाता उस पर भुक्खड़ की तरह झपट पड़ता।

शीघ्र ही प्रेमचन्दजी की कहानियों के दो सग्रह निकले—'नवनिधि' और 'सप्तसरोज'। जहाँ तक मुझे याद है, 'नवनिधि' की कहानियाँ अधिकाशतः ऐतिहासिक या ऐतिहासिकता का पुट लिये हुए थी। तथापि उनका विषय-निरूपण ऐसा सुन्दर था कि लेखक का रचना-कौशल देखकर वास्तव मे चकित रह जाना पड़ता था, और उनमे भावो की खूबियाँ ऐसे अच्छे ढग से व्यक्त की गयी थी कि कोई भी पढकर मुग्ध हुए बिना न रह सकता था। मैने इस पुस्तक को अपनी स्कूली अवस्था में कम-से-कम बारह बार पढ़ा होगा। इसके बाद 'सप्तसरोज' नामक

सग्रह मेरे देखने मे आया। इस सग्रह ने हिन्दी के कहानी-साहित्य में एक पूर्णतः अभिनूतन युग की सूचना दी। इसमे आधुनिक विश्व-साहित्य की कहानी-कला के 'टेकनीक' के पूर्ण प्रदर्शन के अतिरिक्त अन्तस्तल मे प्रवेश करनेवाली मार्मिक गहनता तथा सरल, स्पष्ट वास्तविकता के 'बैकग्राउण्ड' मे प्रतिफलित होनेवाली स्निग्ध सुन्दर सहृदयता की अपूर्व मनोहर अभिव्यञ्जना हृदय मे एक मधुर वेदना की गुदगुदी-सी पैदा करती थी। प्रायः पचीस वर्ष पहले मैंने 'सप्तसरोज' की कहानियाँ पढ़ी थी और एक ही बार उन्हे पढने का अवसर प्राप्त हुआ था · तथापि अभी तक उसकी कुछ कहानियाँ मेरे स्मृति-पटल मे अत्यन्त उज्ज्वल तथा सुस्पष्ट रूप से अङ्कित हैं। 'सौत', 'बड़े घर की बेटी', 'पञ्च परमेश्वर' आदि कहानियाँ साहित्य-ससार मे सदा अमर होकर रहेंगी। ऐसी सुन्दर छोटी कहानियाँ हिन्दी मे न उस युग के पहले कभी लिखी गयी थी, न उसके बाद ही कोई ऐसी कहानी मुझे पढने को मिली जिनमे 'टेकनीक' और सहृदयता का ऐसा अच्छा सामञ्जस्य पाया जाता हो।

इसके बाद 'सेवा-सदन' प्रकाशित हुआ। हिन्दी के उपन्यास-साहित्य मे यह निर्विवाद रूप से युगान्तरकारी रचना थी। इसमें पात्रों के सुन्दर और स्वाभाविक चरित्र-चित्रण के अतिरिक्त एक नवीन आदर्श की अवतारणा कलाकार की आन्तरिक समवेदना के साथ अभिव्यक्त की गयी थी। इस उपन्यास ने मेरे मन मे एक नयी अनुभूति और अनोखी प्रेरणा उत्पन्न कर दी।

'सेवा-सदन' प्रकाशित होने के शायद तीन-चार वर्ष बाद 'प्रेमाश्रम' प्रकाशित हुआ। इस बीच साहित्य और कला के सम्बन्ध मे मेरे विचारों

में बहुत कुछ परिवर्तन और विवर्तन हो गया था। प्राच्य तथा पाश्चात्य कला के प्राचीन तथा नवीन भावों के अध्ययन और मनन के बाद मेरे विचारों की धारा एक विचित्र उलटी-सीधी गति से तरङ्गित हो रही थी। अतएव मेरी ऐसी मानसिक अवस्था मे जब प्रेमचन्दजी का 'प्रेमाश्रम' दीर्घ छः सौ पृष्ठव्यापी विस्तृत तथा विशालकाय आकार में प्रकाशित होकर सामने आया, तो मै अपने प्रिय—'फेवरिट'—लेखक की इस नयी कृति को अत्यन्त उत्सुकता से पढने लगा। पर मुझे खेद हुआ जब मैंने उक्त रचना अपने मन की आशाओं के अनुरूप न पायी। इस रचना से मुझे लेखक की प्रतिभा के विराट् रूप से परिचय अवश्य हुआ, पर उसमें कला का निर्वाह मैंने अपने मन के अनुरूप न पाया। उन दिनों मेरी रगों में कच्ची उम्र का नया ख़ून जोश मार रहा था। 'प्रेमाश्रम' के सम्बन्ध में तत्कालीन साहित्यालोचकों से मेरा मतभेद होने पर मैं रह न सका और अत्यन्त प्रबल आक्रोश के साथ परिपूर्ण शक्ति से मैं उन पर बरस पड़ा। इस पर आलोचना प्रत्यालोचना का जो लम्बा चक्कर चला, उससे तत्कालीन साहित्य के ऐतिहासिक गगन में जो क्रान्तिकारी बवण्डर मचा था, उससे उस युग के पाठक भली भाँति परिचित हैं। आज मै अपनी उस असहनशीलता के कारण लज्जित हूँ। पर यदि विचारपूर्वक उदार दृष्टि से देखा जाय, तो हमारे साहित्य के उस नवीन क्रान्तिकारी युग मे मेरे भीतर कला-सम्बन्धी प्राच्य तथा पाश्चात्य भावों के विचित्र सम्मिश्रण से रासायनिक क्रिया-प्रतिक्रिया ने जो तहलका मचा रखा था उसके फलस्वरूप मेरे विचारों में उग्रता तथा असहन-शीलता आनी अनिवार्य थी।

प्रेमचन्दजी की कला के सम्बन्ध में यह कड़वी धारणा मेरे मन मे कुछ समय तक रही। पर मै उनकी प्रतिभा के वृहद् रूप पर बराबर ज़ोर देता चला आया—मैने उसे कभी अस्वीकार नही किया। १६२७ मे जब प्रेमचन्दजी 'माधुरी' का सम्पादन कर रहे थे, तो उनसे मै लखनऊ मे प्रथम बार मिला; उनके दर्शन मात्र से ही मै सहम-सा गया। उनका चमकता हुआ विस्तृत ललाट, अन्तर्भेदिनी तथा सुगभीर और शान्त आँखे, मोटी भौहे और बड़ी-बड़ी मूछे मिलकर एक ऐसे विचित्र व्यक्तित्व को व्यक्त करती थी जो पूर्णतः भारतीय होने पर भी अपने भावलोक के एकाकीपन मे एक निराली वैदेशिक विशेषता रखता था। जहाँ तक मुझे याद है, रवीन्द्रनाथ ने ईश्वरचन्द्र विद्यासागर के सम्बन्ध मे कहा था कि यद्यपि वह अपने बाल्य-जीवन मे पूरे बंगाली थे और बंगालियों के प्रति उनके मन मे पूर्ण सहानुभूति थी, तथापि अपने अन्तर्जीवन मे वह एकदम अ-बङ्गाली थे और अपने सतेज व्यक्तित्व तथा उदार सदाशय स्वभाव के कारण वे स्वजातीयों से पूर्णतः भिन्न जान पड़ते थे। प्रेमचन्दजी को देखते ही मेरे मन मे वही धारणा जम गयी। मैने युक्तप्रान्त मे अपने परिचित प्रतिष्ठित मित्रों से उनमे एक विशिष्ट विभिन्नता पायी। ज़ार के युग मे नाना कड़वे अनुभवों से निष्पेषित, प्रताड़ित तथा प्रपीड़ित रूस के प्रतिभाशाली मनीषियों के अतल-व्यापी अव्यक्त विक्षोभ की सघन गहनता उनके व्यक्तित्व मे लक्षित होती थी। यदि ग़ौर किया जाय तो प्रेमचन्दजी तथा मैक्सिम गोर्की की बाह्याकृतियों मे भी एक आश्चर्यजनक साम्य दिखाई पड़ता है। दोनों के फोटो उठाकर दोनो का व्यक्तित्व मिलाकर देखिये। आप हैरत

में पड़ जायँगे कि दोनो देशो की भौगोलिक परिस्थिति, सभ्यता तथा संस्कृति मे मूलतः भिन्नता होने पर भी दोनो देशो के आधुनिक साहित्य के दो विशिष्ट प्रतिनिधियों की मुखाकृतियों मे प्रकट होनेवाले व्यक्तित्व मे इतनी अधिक समानता पाई जाती है।

केवल बाह्य समता ही नहो, गोर्की और प्रेमचन्दजी के भीतरी व्यक्तित्व मे भी कुछ कम समता नहीं पाई जाती। जिस प्रकार गोर्की ने दलित मानवता के सुख-दुखों का वास्तविक अनुभव प्राप्त करके अपनी उस सच्ची सहृदयतापूर्ण तथा समवेदनामूलक अनुभूति को अपनी क्रियात्मक रचनाओं मे अत्यन्त सुन्दर रूप से कलात्मक परिपूर्णता के साथ अभिव्यक्त किया, उसी प्रकार प्रेमचन्दजी ने भी भारत की पिष्ट, निपीड़ित निःशोषित तथा उपेक्षित ग्रामीण जनता की आत्मा से अपनी अन्तरात्मा का पूर्ण सयोग सघटित करके उनका यथार्थ चरित्र चित्रित किया है, और अपनी कलामयी अनुभूति का परिचय दिया है।

यद्यपि सामयिक पत्रों में प्रेमचन्दजी की कला-सम्बन्धी धारणा से मेरा मतभेद कुछ कडवे रूप मे व्यक्त हो चुका था, पर जब मै उनसे मिला तो उन्होंने अपनी बातो मे किसी सामान्य सङ्केत से भी यह बात प्रकट न होने दी कि मेरे विचारों से मतभेद होने के कारण मेरे प्रति उनके मन मे किसी प्रकार का द्वेषभाव उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ मे उन्होंने कुछ सङ्कोच के साथ बाते अवश्य की, पर कुछ ही देर बाद वह ऐसे खुले कि दोनों को ऐसा अनुभव होने लगा जैसे हम लोगो की बडी पुरानी मैत्री हो। यह बात प्रेमचन्दजी के हृदय की असाधारण उदारता के कारण ही सम्भव हुई थी। उस दिन से मेरा हृदय प्रेमचन्दजी

के प्रति श्रद्धा और सम्भ्रम के भाव से झुक गया। हिन्दी के बहुसख्यक साहित्यिकों मे विचार-विभिन्नता के कारण जो पारस्परिक असहनशीलता व्यक्तिगत रागद्वेष के रूप मे अत्यन्त सकीर्णतापूर्वक व्यक्त होती रहती है, उसका लेश भी मैंने प्रेमचन्दजी मे नही पाया। उनके साथ घण्टे भर की बातचीत से मै समझ गया कि हम दोनो की कलात्मक अभिव्यक्ति की अन्तर्धाराएँ दो विभिन्न दिशाओं की ओर प्रवाहित हुई हैं। प्रेमचन्दजी व्यक्त जीवन की सामूहिक छायात्मकता के भीतर आदर्शवाद के मूल प्राण की खोज करके उसे जनता के सम्मुख रखना चाहते हैं, और मैं अव्यक्त के क्रोड़ में स्थित कठोर वास्तविक जीवन के रहस्य की ओर निरुद्देश्य दौड़ा चला जा रहा हूँ। तथापि इस कारण से हम दोनों की मूलात्माओं के सम्पूर्ण सहयोग तथा समवेदनात्मक अनुभूति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा पड़ने का कोई कारण मुझे नहीं दिखाई दिया।

इसके बाद प्रेमचन्दजी से मैं केवल एक बार थोड़े समय के लिए मिल पाया था। पर उनके प्रति श्रद्धा का जो भाव मेरे मन में एक बार जम गया था वह स्थिर रहा और सदा अमिट होकर रहेगा।

जनता प्रेमचन्दजी को केवल एक ऊँचे दर्जे के कलाकार के रूप मे जानती है, पर कला के अतिरिक्त उनमे मनुष्यत्व कितना अधिक था, इस बात से बहुत कम लोग परिचित हैं। अपनी रचनाओं में उन्होंने जिन दलितात्माओं के निर्यातन का निदर्शन किया है, उनके प्रति उनकी केवल मौखिक सहानुभूति नही थी, वह अपनी उस सहानुभूति को अनेक बार वास्तविक जीवन मे व्यावहारिक रूप में प्रकट करके हमारे कलाकारों

के लिए एक महत् आदर्श छोड गये हैं। कला की मार्मिक अनुभूति का वास्तविक मूल्य यही पर है। उन्होंने अपने जीवन मे जिन कष्टों का अनुभव किया उससे उन्होंने दूसरे पीडितों को यथार्थ रूप मे समझने मे सहायता पायी, और केवल समझ कर ही वह चुप नही रहे, बल्कि अपने घोर आर्थिक सङ्कट की दशा मे भी वह समय-समय पर सङ्कटापन्न परिस्थिति मे पडे हुए परिचित अथवा अपरिचित व्यक्तियों को यथासामर्थ्य व्यावहारिक सहायता पहुँचाने के लिए सदा उद्यत रहते थे। हिन्दी की साहित्यिक मण्डलियो के घोर स्वार्थपूर्ण वातावरण की सङ्कीर्ण मनोवृत्ति को ध्यान मे रखते हुए जब मै प्रेमचन्दजी के इस उदार मनुष्यत्व की सदाशयता पर विचार करता हूँ, तो मेरे हृदय में विह्वल श्रद्धा गद्गद् होकर उमड उठती है।

साहित्य-साधना

मनुष्य के जीवन का निर्माण दो निश्चित उपकरणो से हुआ है—हृदय और मस्तिष्क। इन्ही दोनों का विकास मानवीय संस्कृति की महत्ता का प्रमाण है। हृदय रागात्मक तथा मस्तिष्क ज्ञानात्मक स्वभाव से सचालित होता है। हृदय प्रेम का और मस्तिष्क बुद्धि का उपासक है। प्रेम का मूल आनन्द है, वह आनद जिसके सवंध मे दार्शनिक कान्ट ने वताया है कि वह प्रयोजनातीत है। सौदर्य आनदप्रद होता है, अतएव सौदर्य से प्रेम होना अनिवार्य है। बुद्धि व्याख्या और तर्क निश्चित यथार्थ की महत्ता स्वीकार करता है। उसमे सिद्धातों का जितना महत्त्व है, साधना का उतना नही। सिद्धात एक व्यक्ति के होकर सबके हो सकते हैं, किंतु उनसे स्वतत्र सत्य की प्रतिष्ठा अनुभूति की अपेक्षा रखेगी, जो हृदय की सत्ता का प्रमाण है, मस्तिष्क की नही। बुद्धि अनुभूत सत्य की सीमा के वाहर जाकर सिद्धातों की उद्भावना करती है। कला हृदय और मस्तिष्क दोनो की सामञ्जस्यमयी अभिव्यक्ति है, क्योंकि एक के बिना वह मद-दृष्टि तो दूसरे के बिना गति-हीन हो जाती है। यो अपने लालित्य के लिए उसे अपने हृदय की अधिक अपेक्षा रहती है। मानव-हृदय की असख्य सम-विषम भावनाओ, कल्पनाओं और विचारो के सामञ्जस्य को कलाकार साकारता देता है, बुद्धि के विच्छिन्न तर्क-जाल को नही। उसकी प्रत्येक अनुभूति में भावना, कल्पना, तर्क तथा बुद्धि का ऐसा सम्मिश्रण रहता है कि

वह किसी वस्तु को एकागी दृष्टिकोण से नही देख पाता। एक सुन्दर सुमन की सौरभ से तृप्त होकर, उसकी कोमलता के स्पर्श से पुलकित होकर, उसके सौंदर्य से मुग्ध होकर ही कोई उसके अस्तित्व का पता पाता है। इन सबसे सर्वथा उदास होकर फूल को एक प्राकृतिक परिणाम के रूप मे देखना एक बड़ी साधना है, जिसकी समर्थता वैज्ञानिक और असमर्थता साहित्यकार का प्रादुर्भाव करती है।

मनुष्य के सुख-दुःख, हर्ष-शोक, राग-विराग, तृप्ति-अतृप्ति, भाव-अभाव की अभिव्यक्ति शाश्वत है, किन्तु जब यह अभिव्यक्ति कला का आश्रय लेकर अनुभूति के माध्यम से अपनी रागात्मक वाणी पाती है तभी उसकी सज्ञा साहित्य होती है, और जब वह बुद्धि के आश्रय से सैद्धातिक विश्लेषण का स्वरूप धारण करती है तब उसकी सज्ञा विज्ञान होती है। इन दोनो मे वही अन्तर है जो शरीर और शरीर-विज्ञान में। साहित्य स्थायी होता है और विज्ञान सतत परिवर्तनशील। जिस समय मनुष्य का हृदय भावना तथा अनुभूति की तरल तरगों से उद्वेलित होता है, उसका मस्तिष्क उस समय विश्राम लेता है, और जब मस्तिष्क बुद्धि तथा तर्क के निमत्रण से एक सक्रिय सजगता पाता है, तब हृदय की वाणी मूक हो जाती है। भिन्न-भिन्न युगों मे सभी देशों के साहित्यिक इतिहास मे इनमे से किसी एक का प्राधान्य होता चला आया है। इस का कारण शायद एक का प्रयोजनपूर्ण और दूसरे का प्रयोजन के परे होना है। प्रयोजन के परे होने का आशय यह है कि मनुष्य उसके बिना भी जी सकता है। जीवन के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय आहार-विहार हैं, अस्तु "रोटी पहले साहित्य बाद मे" का आग्रह बढता चला जा

रहा है। सत्य की स्थापना और सत्य की विवेचना दोनों एक ही वस्तु नही हैं। सत्य को युक्ति और तर्क के विश्लेषण से ज्ञान की सीमा मे समेटना विज्ञान का काम है, जिसका आधार प्रयोजन परिचालित मस्तिष्क से है और जिसका परिणाम एकागी और एकदेशीय होता है। सत्य की सार्वभौमिक एव सार्वदैशिक प्रतिष्ठा साहित्य के द्वारा होती है, जिसका मूल सवेदनशील हृदय है। प्रवृत्तियो के आधार पर यदि व्यक्तियों को लिया जाय तो गाँधी और मार्क्स इसके उज्ज्वल उदाहरण हैं। जो भी हो, आज के युग का रुख बौद्धिक तथा वैज्ञानिक है, हार्दिक और साहित्यिक नही। ऐसा क्यो है? यह विचारणीय है।

आज प्रत्येक राष्ट्र भयानक हिसक जीव की तरह अपनी स्वार्थ-साधना के लिए दूसरे राष्ट्रो को निगल लेने के लिए तैयार है। जीवन-सघर्ष जितना वास्तविक तथा कठोर आज है, उतना शायद ही कभी रहा हो। आज का सामान्य जीवन मानसिक तथा शारीरिक पीड़ाओं का आश्रयस्थल बन रहा है, अतएव उसमे एक ऐसी जड़ता तथा निष्क्रियता आ गयी है कि वह जीवन की विडम्बना मात्र रह गया है। आज का मनुष्य इस यत्र-युग का एक अश मात्र है, इसी कारण उसकी मनोवृत्ति आस्था एव विश्वास की नही, तर्क और बुद्धि की शरण चाहती है, जैसे ज्वर से पीड़ित रोगी मट्ठा। जिन अनुभूत सत्यों और भावनाओं के लिए सख्यातीत मनुष्यो ने आत्म-बलिदान किये हैं उनको भी आज का बौद्धिक प्राणी तर्क और उपयोगिता की कठिन कसौटी मे कसे बिना स्वीकार नहीं कर सकता और न करना चाहता है। तर्क और सिद्धातों की जितनी बड़ी गठरी लेकर वह चलता है, उतनी सचाई की नही।

परिस्थिति, समय और स्थान के अनुसार वह उन सिद्धातों के प्रयोग की परीक्षा भी नहीं करना चाहता। सामूहिक तथा व्यक्तिगत विकास के लिए कुछ सिद्धातों का ज्ञान जितना आवश्यक है उससे कुछ अधिक उनका समुचित प्रयोग, क्योंकि यदि ऐसे सिद्धातों का भार जीवन पर्यन्त मनुष्य ढोता रहे, जिनका उचित प्रयोग उसे ज्ञात न हो, तो उसकी दशा उस पशु के समान होगी जो विना कुछ जाने-समझे राधेश्यामी पडित के साथ रामायण तथा हारमोनियम लादे फिरता है। आज के मनुष्य की सभी अन्तर्मुखी प्रवृत्तियाँ विद्रोह के रूप मे बहिर्मुखी हो उठी हैं। इसीलिए उसकी आत्म तृप्ति की कल्पना भी सम्भव नहीं रही। ठीक भी है, जीवन को विकृत न बनाकर उसे सौन्दर्यपूर्ण और विकास-शील, उपयोगी स्वरूप देने की साधनात्मक अन्तर प्रवृत्तियों तथा उस साधना को सतुलित सक्रियता देने वाली बहिर्प्रवृत्तियो के सामञ्जस्य के बिना जीवन अत्यन्त दुरूह और दयनीय हो जाता है। सम्भवतः इसी-लिए कहा भी गया है कि इच्छा, ज्ञान और क्रिया का समन्वय जीवन की सुचारुता का सरक्षक है।

बर्बरता की प्राथमिक अवस्था से सभ्यता की इस अवस्था तक सघर्ष मनुष्य का सहचर रहा है, किन्तु आज बुद्धि के विकास ने, विज्ञान की उन्नति ने, मनुष्य की प्रत्येक विध्वसक कल्पना को भौतिक साकारता दे दी है। वर्तमान नर-सहारी महायुद्ध इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। क्राति युग-प्रवर्त्तिका होती है, किन्तु उसकी दिशा और गन्तव्य का सरक्षण बुद्धि और हृदय दोनों के द्वारा होना चाहिए, अन्यथा उसके परिणाम की कोई निश्चित रूप-रेखा नहीं हो सकेगी। आँधी का काम चलना है,

यह देखना नही कि पेड़ टूटे या धूल उड़ी। क्राति के तूफानी उथल-पुथल से अपनी सास्कृतिक रक्षा उसी के लिए सम्भव है, जो उसके उत्थान, गति और दिशा से पूर्ण परिचित हो और उसे सहने की क्षमता रखता हो। ऐसा न करके आज का मानव इस वैज्ञानिक सघर्ष को ही जीवन का चरम लक्ष्य तथा विकास मान बैठा है। सघर्ष जीवन का अथ हो सकता है, इति नहीं। इसका आशय यह नहीं है कि जीवन को सघर्ष से विमुख होना चाहिए। वास्तव मे मनुष्य जीवन को विनाश करने वाले संघर्ष को छोड़ कर विकास के संघर्ष पर आरूढ होता चलता है, क्योकि बर्वरता की पाशविक प्रवृत्ति से निकल कर मानवीय गुणो तथा कला-कौशल की वृद्धि करते हुए सभ्य तथा सदाचारी और सुसस्कृत होते जाना ही मनुष्य जाति के विकास का प्राणस्पन्दन है। जीवन की स्वस्थ प्रगति का अर्थ यही है कि उसकी विकासशील परिस्थितियो की सम्भावना सतत सरक्षित होती चले, क्योकि समस्त सामूहिक तथा सामाजिक नियम मनुष्य की नैतिक तथा सवर्तोमुखी उन्नति के आधार पर प्रतिष्ठित किए गये हैं, इसके अतिरिक्त उनका कोई मूल्य नही। जल की बाह्य तरलता का साम्य रखते हुए भी शराब प्यास मिटाने की क्षमता नही रखती। आज के मनुष्य के भीतर छिपी पशुता को बौद्धिक प्रश्रय मिलने के कारण ही इतना भयकर रूप धारण करना पड़ा है। आज उसकी कुप्रवृत्तियो के सामने बेचारे पशु भी स्तब्धता के कारण अपनी जुगाली बन्द कर देते हैं।

जीवन और जगत् की इस भयानक और दयनीय परिस्थिति में मार्क्सवाद के उदय ने भी जीवन के आतरिक स्थल में मर्म-आघात

पहुँचाया है। मार्क्स ने एक प्रत्यक्ष बौद्धिक विधान के द्वारा परोक्ष की एकान्त उपेक्षा करके एक दार्शनिक भूल की थी। उस समय आवश्यकता ही ऐसी थी। नव-जीवन सचार की प्रतिक्रियात्मक विचार-धारा इसी प्रकार उग्र और गतिशील होती है। क्रिया की कसौटी पर ही उसकी परीक्षा सम्भव है, किंतु मार्क्स को इसका अवकाश नहीं था। सम्भवतः उसने इच्छा भी नही की। उसकी यांत्रिक-योजना ने मानव-मन तथा मानव-हृदय की सत्ता को स्वीकार नहीं किया, पशु और मनुष्य की तात्विक विभिन्नता की ओर ध्यान नही दिया, जड और चेतन दो भिन्न सत्ताएँ हैं, इसका स्मरण नही किया फल यह हुआ कि उसका सिद्धान्त सार्वभौमिकता से वञ्चित रहा। मार्क्स के मतानुसार जगत् तथा जीवन का एकमात्र सत्य प्रत्यक्ष भौतिक जीवन है और उसके उपभोग तथा विकास का एक मात्र मार्ग है बुद्धि का निदर्शन। समाजवाद की इस उद्भावना मे समस्त पीडित मानवता के उद्धार का जितना आकर्षण है उतना उस विषय का क्रिया-कलाप नहीं। कारण यह है कि मार्क्स ने सुन्दर सिद्धात तो दिया, किन्तु उसकी व्यावहारिकता को चरितार्थ करने का मौका उसे नही मिला। प्रत्यक्ष वर्तमान को उसका अतीत और दूर का भविष्य उसी प्रकार मर्यादित रखता है जिस प्रकार सरिता, की अतल गहराई को उसके उभय कूल, किंतु उस समय यह सोचने का समय किसी को नहीं था। उसी का परिणाम है रूस की राष्ट्रीय वृत्ति। जीवन और प्रकृति के बीच मे सतत सघर्षशील आन्तरिक प्रवृत्तियो की उपेक्षा ने भौतिकता का अभिषेक तो कर दिया, किन्तु वह आध्यात्मिकता की विद्रोही प्रजा पर शासन न कर सकी और स्वय

स्टैलिन को अन्य स्वार्थी राष्ट्रों की भाँति अपनी रक्षा का प्रश्न दूसरे के प्राणों की बाजी लगा कर हल करना पड़ा। यही हमारा बुद्धिवाद, जड़-वाद तथा समाजवाद है। इसके विषय मे रूसी क्राति के प्रमुख प्रेरक ट्राटस्की ने कहा है—"अतीत काल की तरह धर्म के कारण परस्पर युद्ध न होकर, आधुनिक काल मे और भविष्य मे सिद्धान्तों के आधार पर सघर्ष का उत्तरदायित्व सम्पूर्णतः धर्म पर लाद कर उसे मिटा देने की बात करना तो वैज्ञानिक मनोवृत्ति का परिचय नही देता। यह तो अलिप्त विचार नही है बल्कि विकृत व्यभिचार तथा आक्रोशपूर्ण चिन्ता है।" वास्तव मे बुद्धिवाद स्वय अनेक सघर्षों तथा वादों को जन्म और प्रश्रय देता है, बुद्धि का स्वभाव उलझनमय है।

भौतिक जीवन की समष्टि समाज है और उसका आधार है अर्थ तथा स्त्री-पुरुष का सबध। अर्थ सनातन काल से शक्ति का अनुचर रहा है। अतएव सामाजिक व्यवस्था मे अर्थ-साम्य की वह स्थिति जो मार्क्स ने कल्पना की थी कभी सम्भव नही हुई। जीवन के आर्थिक प्रश्नों को पूर्ण रूप से सुलझा सकने योग्य सिद्धातो की उसमे कमी नही, किन्तु जीवन-समष्टि के सामजस्य के साथ उनका उपयोग करने का उसे समय नही मिला, जो स्वाभाविक है। मनुष्यता से ऊपर की स्थिति को प्राप्त करने की चेष्टा मनुष्य को निर्जीव देव-प्रतिमा बना कर छोड़ देती है और मनुष्यता के नीचे की स्थिति पशुता के अतिरिक्त और हो ही क्या सकती है। प्रत्येक कार्य-सपादन तथा सृजन के दो अत्यन्त आवश्यक अग होते हैं—उस विषय का सैद्धान्तिक विज्ञान और उसका सक्रिय व्यावहारिक प्रयोग। अतएव जिस सामाजिक विज्ञान मे क्रियात्मक कला

का अनुभव रहता है, वह व्यर्थ सिद्ध होता है, यह स्मरण रखना होगा।

अनुसरण मनुष्य का स्वभाव है, किन्तु यदि अनुसरण को अनुभव के परीक्षण से पूर्णता की ओर ले जाने का प्रयास नहीं होता तो वह सरकस में कार्य करते हुए सिखाए गये पशु की श्रेणी मे मनुष्य को भी बैठा देता है। विवेकहीन आचरण का ही नाम दुराचरण है, इसमें सन्देह नहीं। पाश्चात्य सभ्यता तथा बौद्धिक विचारों की चकाचौंध में पडकर शिथिल भारतीय समाज के भीतर एक ऐसा वर्ग उत्पन्न हो गया है जो आत्मा से भारतीय, किन्तु विचारों तथा वेश-भूषा से यूरोपीय सा ज्ञात पडता है। गुलाम भारत न उनसे सहयोग कर पाता न उन्हें छोड ही सकता है। सगठन की इस असुविधा तथा सस्कृति की उपेक्षा के कारण इस देश का साहित्यिक वातावरण दिन-प्रति-दिन दूषित तथा विकृत होता जाता है। सस्कृति और धर्म, ईश्वर और आत्मा, स्नेह और सहानुभूति को मानवता का अफीम कहा जाता है, जो पाश्चात्य मतों की प्रतिध्वनि मात्र है। आज का समाजवादी साहित्यकार एक जीवित व्यक्ति न होकर ग्रामोफोन बन बैठा है। शायद इस यत्र-युग की यही महिमा हो। समाज तो ऐसे व्यक्तियों का (ग्रामोफोनों का नहीं) समूह है, जिन्होंने व्यक्तिगत स्वार्थों की समष्टिगत रक्षा के लिए अपने विषय तथा विरोधी आचरणों में साम्य स्थापित करनेवाले कुछ सिद्धान्तों की सामान्य मानता का समझौता कर लिया है। इस कारण व्यक्ति की उसमें एकात उपेक्षा कैसे हो सकती है? समाज का यह सगठन मानव की वाह्य तथा आन्तरिक, बौद्धिक एव हार्दिक प्रवृत्तियों की समन्वयात्मक भावना की प्रेरणा से ही सचालित हो सकता है, केवल सैद्धातिक

शुष्क आदर्श से नहीं। यही कारण है कि पशु-जगत् की समान प्रकृति से मिली समूह-प्रवृत्ति को मनुष्य ने विकसित करके एक सर्वमान्य सस्था के रूप मे ग्रहण कर लिया है।

समाज मे दो परस्पर-विरोधी शक्तियाँ हैं—पूँजीवादी और समाजवादी। साहित्य का झुकाव समाजवाद की ओर है, यह बहुत शुभ लक्षण है। इसकी मान्यता से किसी भी विचारवान व्यक्ति का मतभेद नही हो सकता। किंतु साहित्य को केवल सामूहिक चेतना मानने और व्यक्ति की एकदम उपेक्षा करने की प्रवृत्ति को कोई भी स्वीकार नहो कर सकता। "सिद्धात एक के होकर सबके हो सकते हैं, अतः हम उन्हें अपने चिंतन मे ऐसा स्थान सहज ही दे देते हैं जहाँ वे हमारे जीवन से कुछ पृथक् एकान्तिक विकास पाते रहने को स्वतत्र हैं। परन्तु इन सिद्धातो से मुक्त जो सत्य है उसकी अनुभूति व्यक्तिगत ही सम्भव है और उस दशा मे वह प्रायः हमारे सारे जीवन को अपनी कसौटी बनाने का प्रयत्न करता है। इसी से स्थूल की अतल गहराई का अनुभव करनेवाला देहात्मवादी मार्क्स भी अकेला ही है और अध्यात्म की स्थूलगत व्यापकता की अनुभूति रखनेवाला अध्यात्मवादी गाँधी भी।" समाज व्यक्ति को छोड़कर अपनी स्थिति नही रखता। व्यक्तित्व की रक्षा के लिए समाज बना है और समाज के अस्तिव के लिए व्यक्ति की अपेक्षा है। सामाजिक व्यवस्था के विकास के लिए व्यक्ति उपेक्षणीय नही, संरक्षणीय है। साहित्य मे तो व्यक्तित्व का विशेप महत्त्व रहा है और रहेगा। यही यथार्थ तथा आदर्श की भी समस्या सामने आती है। आज का साहित्यिक अपनी बौद्धिक शक्ति और अपने वैज्ञानिक

अनुसधानों की महत्ता पर इतना विश्वास करता है कि उसे हार्दिकता और आदर्श का बाजारू मजाक उड़ाये बिना सतोष नही होता। दासता का बन्दी उत्तेजना के आवेश मे अपनी हथकड़ियों के साथ अपने हाथ भी काटने का विचारशून्य प्रयत्न कर रहा है। यथार्थ की आकुलता मे आदर्श के नाम से अपनी जातीयता, सस्कृति, विचार-पद्धति, आध्यात्मिकता, रीतिनीति आदि प्राचीन मूल्यवान धरोहरो को उखाड़ कर फेक देने की इच्छा दासमनोवृत्ति का उदाहरण मात्र है। जीवन के यथार्थ से मुँह फेरना कायरता है, किन्तु कुत्सित तथा कलुषित यथार्थ की विकृत-रस-मुग्धता कुरूपता है। घोर से घोर वास्तविक यथार्थ के चित्रण मे साहित्यकार के उद्देश्य का आदर्श परीक्षणीय रहेगा। क्योंकि जीवन मे गन्दी नाली की यथार्थता को चरितार्थ करने का आशय यह नही कि वह भोजनालय से होकर बहाई जाय। किसी वस्तु के गुण अवगुण का परिचय उसकी प्रयोग-प्रेरणा से मिलता है। यह कौन नही जानता कि सिद्ध धतूरे का सदुपयोग जीवन-रक्षा मे सहायक और रोटी जैसे खाद्य पदार्थ का दुरपयोग मृत्यु का कारण होता है। यथार्थ और आदर्श का सम्बन्ध सापेक्ष है, क्योंकि एक के अभाव मे दूसरे की उपस्थिति सम्भव नही। साहित्य के यथार्थ मे मृत्यु की दुर्बलता की अपेक्षा जीवन-शक्ति का ही आग्रह रहेगा, यह मेरी दृढ धारणा है। यथार्थ के कुरूप चित्रण की रसमग्नता जीवन को क्षणिक उत्तेजना दे सकती है जो अगूर के विकृत रस की मदिरा से भी सम्भव है, परन्तु इस स्नायविक उत्तेजना का अन्त अविकल क्लान्ति के अतिरिक्त कुछ नही होता। विकास और

विकृति दोनो परिवर्तन प्रेरक होकर भी अपने चरम परिणाम मे एक नहीं होते। एक वस्तु, व्यक्ति अथवा प्रकृति की स्वाभाविक सौम्यता को स्पष्ट करता है तो दूसरा उसकी कुरूपता से क्रीड़ा। अतएव समाज के किसी विधान मे यथार्थ की कुरुचिपूर्ण अश्लील अभिव्यक्ति-स्वतन्त्रता सम्भव नहीं है। सामूहिक सापेक्षता ही समाज का मूल प्राण है, फिर व्यक्तिगत विकृति की उसमें कहाँ गुजायश है। जीवन का यथार्थ उद्देश्यपूर्ण होकर भावना के द्वार से जब हृदय को स्पर्श करता है तब मनुष्य की विचारधारा उससे उसी प्रकार प्रभावित होती है जिस प्रकार वायु के सचलन से जल। जब यथार्थ निम्न पाशविक प्रवृत्तियों की उत्तेजना के आधार पर सामने आता है तब मनुष्य के मन मे बड़ी प्रतिक्रिया होती है, जो छिपकली को दाल के कटोरे मे देख कर। वास्तव में यथार्थ यदि सुरुचि के प्रति उदासीन होकर या उसके विरोध में व्यवहृत होता है तो उसमें रचनात्मक तथा सृजनात्मक शक्ति और भावना की कल्याणकारी परितृप्ति नहीं रहती, जो साहित्य का साफल्य है। साधारणतया किसी विचार-पद्धति के सिद्धात रूप और उसके प्रयोग रूप में जो अन्तर है वही यथार्थ और आदर्श में भी है। ये दोनों परस्पर-विरोधी न होकर सहयोगी हैं। जीवन का यथार्थ साहित्य का यथार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि आज का यह विध्वस विज्ञान का प्रत्यक्ष यथार्थ है, किन्तु इसकी हमे लालसा नहीं, हम तो निर्माण के चिर-खोजी हैं। आज का बुद्धिवादी यथार्थ मे बिना भावना का समवेदनीय पुट दिए उसे ससार के सामने रखने को लालायित है, किन्तु उसका माध्यम साहित्य नहीं, विज्ञान है। साहित्य की अभिव्यक्ति सदैव सौन्दर्य-साधित

तथा भावात्मक होती है। जीवन की सारी यथार्थ नग्नता साहित्य मे ज्यों का त्यों अवतरित करने का अर्थ यह है कि साहित्यकार के पास हाड़-मास के अलावा न तो कुछ देने की उमग है, न कुछ लेने की शक्ति। साहित्यकार की यह शिथिलता उसके विकास की नहीं, ह्रास की सूचक है। यथार्थ चित्रण आदर्श का आह्वान है, स्थूल का 'पोस्ट-मार्टम' नहीं। "जीवन या राष्ट्र के किसी भी महान स्वप्न-द्रष्टा, नवनिर्माता या कलाकार में जीवन के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अभाव नही, किन्तु वह एक सृजनात्मक भावना से अनुशासित रहता है। विश्लेषणात्मक तथा प्रधानतः बौद्धिक होने के कारण वैज्ञानिक दृष्टिकोण एक ओर जीवन के अखड रूप की भावना नही कर सकता और दूसरी ओर चिन्तन मे एकान्तिक होता जाता है। उदाहरण के लिए, हम अपनी राष्ट्र या जनवाद की भावना ले सकते हैं, जो हमारे युग की विशेष देन है। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से हम अपने देश के प्रत्येक भू-खड के सबध में सब ज्ञातव्य जानकर मनुष्य के साथ उसका बौद्धिक मूल्य आँक सकेंगे, और वर्ग-उपवर्गों मे विभक्त मानव-जीवन के सब रूपों का विश्लेषणात्मक परिचय प्राप्त कर उसके सबध मे बौद्धिक निरूपण दे सकेंगे, परन्तु खड-खड मे व्याप्त एक विशाल राष्ट्र-भावना और व्यष्टि-व्यष्टि मे व्याप्त एक विराट् जन-भावना हमें इस दृष्टिकोण से ही नही मिल सकती। केवल भारतवर्ष के मानचित्र बाँट कर जिस प्रकार राष्ट्रीय भावना जाग्रत करना सम्भव नहीं है, केवल शतरज के मोहरों के समान व्यक्तियों को हटा-बढाकर जैसे जन-भावना का विकास कठिन है, केवल वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन की गहराई और विस्तार नाप लेना भी उसी तरह

दुस्तैर/कार्य है। इसी से प्रत्येक युग-निर्माता को यथार्थ द्रष्टा ही नहीं स्वप्न स्रष्टा भी होना पड़ता है।" सम्भावित आदर्श के आधार पर ही मनुष्य पशु से ऊपर उठता है, इसके विपरीत उसकी वही दशा होगी जो चन्द्र-दर्शन के लिए आकाश की ओर न देखकर धरती खोदनेवाले की। यथार्थ का स्वस्थ चित्रण साहित्य की श्री-वृद्धि का कारण होगा और उसका अस्वस्थ स्वरूप क्षयरोग के कीटाणुओ की भाँति साहित्यिक स्वास्थ्य और सौंदर्य तथा जीवन का क्षय करने मे सहायक। यथार्थ और आदर्श के विषय में हमे स्मरण रखना होगा कि पृथ्वी पर पैर जमा कर ही हम आकाश की ओर अवलोकन कर सकते हैं।

धर्म तथा संस्कृति के उच्छेदन मे भी भारत पश्चिम की अंधपरम्परा का अनुगामी बन रहा है। कोई नियम, सिद्धात तथा आदर्श सब समयो और सब परिस्थितियो के लिए समान उपयोगी सिद्ध नही हो सकता, सब मे समय के अनुसार परिवर्तन की आवश्यकता पड़ती है; किंतु पथिक अपने पिछले पथ के सभी आधारों तथा आश्रयो को यदि हटाता चले तो भावी पीढी की प्रगति की सभावना ही न रह जाय। अतीत की परिणत तथा दृढ आधार-शिला पर वर्तमान का शिलान्यास होना चाहिए, यही स्वाभाविक है। कवि कालिदास की यह उक्ति उल्लेखनीय है—

सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।

सम्भवतः कालिदास की यह उक्ति आज के बाबू साहित्यिक को अपील न करे, अतएव सास्कृतिक मूल्यों के विषय मे लेनिन का

वक्तव्य भी दिया जाता है—

We must retain the beautiful, take it as example. Hold on to it, even though it is old. Why turn away from real beauty and discard it for good and all as a starting point for further development, just because it is old? Why worship the new as the good to be obeyed just because it is new?

संक्षेप में इसका भावार्थ है—

"हमें सुदर को आदर्श-रूप मानकर उसे ग्रहण किए रहना होगा, चाहे वह पुराना ही क्यों न हो। केवल पुराना होने से ही सुदर को प्रगति के श्रीगणेश के लिये क्यों बहिष्कृत किया जाय? नये की पूजा केवल इसलिये क्यों की जाय कि वह नया है?"

नारी की भी समस्या आज के साहित्य मे दिनो-दिनों जटिल और कुठित होती जाती है। सारी सामाजिक व्यवस्थाओं की प्राण-शक्ति, उसकी सुचारुता की शपथ, समाज के आवश्यक अग स्त्री-पुरुष के सामजस्यपूर्ण सबध पर निर्भर है। सोलहवीं सदी तक समाजवादी रूप मे ही स्त्रियो को पीटना प्यार का चिह्न माना जाता था। जिस स्त्री का पति उसे जितना ही अधिक मारता था उतना ही अधिक वह अपने पति की प्रेम-पात्री मानी जाती थी। विवाह के समय दामाद को एक कोड़ा दिया जाता था ताकि वह अपनी पत्नी की मरम्मत कर सके। अपने यहाँ का यह आदर्श तो विख्यात है ही—

ढोल गँवार सूद्र पशु नारी,
ये सब ताड़न के अधिकारी।

यदि इन प्राचीन कुरीतियों को प्रतिक्रियात्मक कह कर छोड़ भी दें, तो आज का मानव भी स्त्री के प्रति उसी प्रकार बर्बर तथा खूँखार है। वर्तमान साहित्य के अध्ययन से इसके अनेक प्रमाण मिल सकते हैं। आज का कथित साम्यवादी स्त्री को राष्ट्र की सम्पत्ति समझता है और किसी एक व्यक्ति की संगिनी न समझ कर उसे सारे मनुष्यों की विकृति का बहाव बनाना चाहता है। यह युद्ध का समय है, सैनिकों मे उत्तेजना का आधिक्य होना भी स्वाभाविक है। मृत्यु की शीतल-गोद का स्मरण जीवन की क्षणिक उत्तेजना मे अपना आश्रय खोजता है, किन्तु यदि प्रत्येक नागरिक तथा साहित्यिक भी उसी दृष्टिकोण को अपना लेगा तो समाज की संरक्षिका स्त्री जाति की क्या गति होगी? 'क्वचिदपि कुमाता न भवति' का बदला लेने के लिए आज का यथार्थवादी अच्छी तरह से तैयार होकर स्त्री को हाड़-मास का पिंड मात्र कहने तथा मानने का दुस्साहस कर रहा है। तभी तो वह अपनी पत्नी के प्रति लिखता है—

तुम केवल वैधानिक वेश्या!

इसी प्रकार एक नहीं अनेक कविताएँ और कहानियाँ प्रगति तथा यथार्थ के नाम पर स्त्री-जाति का अपमान कर रही हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। अब वे दिन नही रहे जब स्त्रियाँ जाति-वृद्धि तथा पुरुष के मनोविनोद का साधन थीं। आनन्द के अन्य अनेक उपकरणों की भाँति उनका दान और अपहरण अब सम्भव नहीं हो सकेगा। जागृति के इस युग मे, समाज की सतुलित व्यवस्था मे, परिश्रम और अधिकार-हीनता का वह क्रम नही चल सकता। मनुष्य जाति की मानसिक उच्चता, महत्ता

तथा अन्य सद्गुणों पर जब विचार किया जाता है तब पुरुषों से स्त्रियों का स्थान कहीं ऊँचा उतरता है। साधारण जीवन मे पुरुष व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना से परिचालित होता है, किन्तु स्त्री स्वभाव से ही कोमल और परोपकारप्रिय होती है। किसी देश की सस्कृति के निर्माण और विकास मे नारी प्रकृति की परिपूर्त्ति है और नर उसका विघातक। जीवाणु के दो भेद होते हैं—अणुलोम-परिणामी और प्रतिलोम-परिणामी, एक निर्माण-शक्ति, दूसरा विध्वस-शक्ति। कहना न होगा कि नारी सदैव निर्माणप्रिय होती है। वस्तु के निर्माण के पश्चात् उसके विनाश का समय आता है। अतएव निश्चय है कि नारी की उत्पत्ति नर से पहले हुई। जीवन-सत्ता का प्रधान आधार नारी है।

पुरुष ने नारी के साथ लगातार अनेक अक्षम्य अपराध किये हैं। उसको क्रीड़ा की पुतली, खेल, तमाशे की वस्तु, और अपनी धूर्तता का शिकार बनाया है। फिर क्या यह सम्भव है कि निसर्ग के साथ छल करनेवाला कभी सुखी हो? इतिहास इस बात का साक्षी है कि नर ने नारी के साथ बहुत ही भद्दा भेद-भाव किया है। नीति, धर्म, कानून, साहित्य और लोकमत सभी क्षेत्रों मे नारी को दबाने की चेष्टा की गयी है। यदि कही स्त्रियो की स्थिति है भी तो वह पुरुषो की गुलामी के लिए, न कि सहयोगिता के लिए। जन्म लेते ही असख्य लड़कियों के गले घोंट डाले गये, अगणित स्त्रियों को धर्म के नाम पर जला दिया गया, किंतु नारी ने माता बनकर पुरुषों का पोषण ही किया है। यदि कहीं स्त्रियाँ भी इस नारी-विरोधी नर-सतति का गला घोंटना प्रारम्भ करतीं तो आज विश्व की क्या दशा होती? आश्चर्य तो तब होता है जब पुरुष आज भी स्त्री

की अर्पना भोग्य-पदार्थ ही मानता है। इतिहास की चेतावनी से प्रत्येक समझदार व्यक्ति को इस निश्चय पर पहुँचना चाहिए कि संसार के भावों के विकास के लिए और व्यापक सामूहिक जीवन को सुखी और शातिमय बनाने के लिए स्त्रियों का उचित अधिकार और सम्मान पाना नितात आवश्यक ही नही, अनिवार्य है। जो जाति जीवित और प्रगतिशील रहना चाहती है उसे स्त्री के विविध रूपो और स्नेह-शक्तियो का सम्मान करना चाहिए अन्यथा जाति का विकास सम्भव नही हो सकता। मरणासन्न जाति के इन सन्निपातिक उद्गारों को अपनी गति रोकनी चाहिए—

गन्दी हो !
बाहे जब उठती हैं नाजुक और नाज से
स्वर्ग खो जाता है—नर्क मिल जाता है।
गन्दी हो !

यह कहने के पश्चात् कवि का नारी के प्रति निमत्रण भी परीक्षण-योग्य है, जिसमे उससे लज्जा का आवण उतार कर नग्न रूप मे पुरुषो का साथ देने की अपील की गयी है।

इस तरह के एक नही अनेक अवतरण उदाहरण के लिए सामने रखे जा सकते हैं। पर ससार भर का कूड़ा करकट कौन सामने रखे ! इतना अवश्य निवेदनीय है कि प्रगति तथा विकास के इन पुजारियो को स्त्रियों के जीवन के प्राचीन भद्दे साँचे को बदलने का प्रयत्न करना चाहिए और "आज सोहाग हरूँ मै किसका, लूटूँ किसका यौवन" की प्रवृत्ति को छोड़कर स्वस्थ भावनाओं का स्वागत करना

चाहिए। स्त्री और पुरुष के सम्बन्ध भक्षक-भक्ष्य, भोगी-भोग्य के न होकर, स्वस्थ सहयोग के हैं, किंतु आधुनिक साहित्य में नारी-विषयक विकृतियों का विष इस प्रकार बढता चला जाता है कि सभ्य मानवीय व्यवहारों की अपेक्षा उसकी कुचेष्टाओं को ही अधिक प्रश्रय मिल रहा है। अस्तु, भारतीय साहित्य को फासिस्टों की तरह स्त्रियों को गुलाम बनाने की प्रवृत्ति एक ऐसे गहरे गर्त में पछाड़ देगी, जहाँ से देश की गुलामी की अवधि द्रौपदी के चीर की भाँति बढती चली जावेगी, यह निश्चय है। मानवीय न्याय तथा अधिकारों के साथ सामूहिक कल्याण की भावना को प्रगति देनेवाला साहित्य कभी स्त्रियों का अपमान नही कर सकता। उसका यथार्थ वर्तमान वस्तुस्थिति का चित्रण मात्र न होकर वस्तुस्थिति की भावी-रूपरेखा का सुझाव होता है। वह किसी प्राचीन सस्कृति के विनाश का उतना आग्रह नहीं करता, जितना उसके नव-निर्माण का। नवीनता का सम्पन्न कोष विद्वेष तथा दुर्भावना की धरोहर से पूर्ण नहीं हो सकेगा। साहित्य के सारे ज्ञान और सारी शिक्षा की परिपूर्ण प्रेरणा मानव को जीवन की इस विषम अनेक-रूपता मे व्याकुल ऐक्य खोज लेने की क्षमता देती है, दूसरो के प्रति सहानुभूतिमय रहने और अपने सकीर्ण व्यक्तित्व के प्रसार करने की सर्वमय भावना उत्पन्न करती है। तभी साहित्य के कार्य, चिंतन और भाव उसके अपने होते हुए भी सब के हो जाते हैं। साहित्य-सृजन का यही सबसे सुन्दर पुरस्कार है। और साहित्य की सबसे बड़ी सार्थकता भी यही है।